मधुसार

जैन दर्शन चिंतन : जीवन साधना

मेरी नज़र से

महावीर से आज तक

मधु सिंघी

पृष्ठ सज्जा :
संपदा राजुरकर

••

टाईप सेटींग :
दिशा बावनगडे

••

प्रकाशक :
विज्ञात प्रकाशन,
निकट हनुमान मंदिर संगम कॉलोनी,
भापरा रोड, समालखा, पानीपत, हरियाणा–132101

••

प्रथम संस्करण :
फरवरी 2023

••

सर्वाधिकार सुरक्षित
मधु सिंघी के पास

••

मूल्य : 500/–

श्री महावीराय नमः

मेरा मंतव्य

जैन धर्म के बारे में आज तक बहुत कुछ लिखा गया है। असंख्य लोगों ने इसमें अपना पूरा जीवन लगा दिया है और उसका अनुसरण भी किया है। बड़े-बड़े शास्त्र जैसे उत्तराध्ययन सूत्र, समयसार, तत्वार्थ सूत्र, मोक्ष मार्ग प्रकाशक इत्यादि लिखे गये हैं, जिनको पढ़ने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। जैन दर्शन जीवन जीने की ऐसी कला है जिसका जो भी व्यक्ति पालन करे वह अपना जीवन सुधार सकता है,परंतु मुझे लगता है कि आज भी नयी पीढ़ी इसमें रुचि नहीं ले पाती है, क्योंकि शास्त्रों की भाषा और उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्द बहुत क्लिष्ट हैं । एक-एक शब्द की व्याख्या भी इतनी लंबी और गूढ़ अर्थ रखती है कि जैनधर्म के सही प्रारूप को समझने के लिए इस दौड़ भाग वाली जिंदगी में गृहस्थ समय नहीं दे पाते हैं। वे जानना चाहते हुए भी पढ़कर सीधा समझ नहीं पाते हैं इसलिए साधारणतया इसमें रुचि उत्पन्न नहीं हो पाती है और जो इसे सही रूप में समझ लेते हैं वे अपने आत्म कल्याण में स्वयं प्रवृत्त हो जाते हैं, परंतु नयी पीढ़ी तक जैन दर्शन पहुँचाया जाये यह भी अत्यंत आवश्यक है।

मैंनें इस पुस्तक 'मधु सार' (जैन दर्शन चिंतनःजीवन साधना) में जो भी वर्णन किया है, वह जैन दर्शन के प्रति मेरा अपना सीमित ज्ञान है और सरल भाषा का प्रयोग है, जो साधारण ज्ञानी समझ सके और वे अपने भावों की शुद्धि करते हुए जैनी होने में गर्व महसूस कर सके। मैनें १०८ कुँडलिया छंद का प्रयोग करते हुए पहले हर बात को पद्य में कहा है और बाद में उसका गद्य में विस्तार किया है ताकि साहित्य रुचिकर बन सके और हर व्यक्ति आसानी से समझ सके। आने वाली नयी पीढ़ी के लिए यह मेरी भेंट है।

जैन धर्म के अनुसार तप और त्याग के बल से मोक्ष तो बहुत

आत्माओं ने प्राप्त किया, लेकिन जिन केवली आत्माओं ने उपदेश देकर धर्म प्रभावना दी वे २४ तीर्थंकर इस अवसर्पिणी काल में हुए हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अंतिम २४ वें तीर्थंकर महावीर स्वामी तक हैं। भगवान महावीर स्वामी जी ने केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद देशना देकर सभी जीव जगत को समझाया कि अगर कोई भी जीव पूरी निष्ठा के साथ प्रयत्न करे तो हर किसी को इस जगत में क्षमत्व भाव के साथ सौम्य और शांत जीवन जीने का सौभाग्य तो प्राप्त होगा ही साथ-साथ मोक्ष मार्ग सुलभ करने का अवसर भी प्राप्त हो सकता है। इसके लिए हमें अपनी पाँचों इंद्रियों पर अंकुश रखकर समभाव में रहने की जरूरत है। तभी वह जीतेंद्रिय बन सकता है। अरिहंत बन सकता है।

जैन दर्शन अपने भावों की शुद्धि का दर्शन है। यह शुद्धि अपने कषाय भावों को मन से हटाकर स्वयं ही प्राप्त की जा सकती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर कर्मों का आवरण है। ये कर्म पुद्गल ही आत्मा का निरंतर घात कर रहे हैं। आत्मा मजबूरन इन कर्मों को भोगने के लिए इस संसार में आवागमन कर सुख-दुख भोग रही है। अपनी आत्मा को कर्मबंधों से सदा-सदा के लिए मुक्त करवाना ही जैन दर्शन का उद्देश्य है। यह कार्य सिर्फ मनुष्य योनि में ही संभव हो सकता है, क्योंकि मनुष्य पंचेन्द्रिय जाति का संज्ञी जीव है, जिसके पास मन होता है। मन में हेयोपादेय की क्षमता है, जो संसार के अन्य प्राणियों में नहीं होती है। मन में ही भाव बनते बिगड़ते रहते हैं। धीरे-धीरे अपने भावों पर अंकुश लगाया जा सकता है जो मुश्किल जरूर है, लेकिन असंभव भी नहीं है।

मन, वचन और काया के योग से कर्म करते हुए निरंतर जीव के चित्त में भाव परिवर्तन होते रहते हैं वे ही जीव की प्रवृत्तियाँ बनती जाती हैं। इन प्रवृत्तियों के उतार-चढ़ाव के अनुसार जीव के गुण स्थानों की स्थिति बनती है। भावों की तीव्रता और मंदता के हिसाब से भी यह परिवर्तन प्रतिक्षण होते रहते हैं। भावों की शुद्धि से ही आत्मा की शुद्धि होती है। किस जीव के आत्मा पर कितनी मात्रा में कर्मपुद्गल बंधे हुए हैं इनकी यह स्थिति जैन आगम में वर्णित

गुणस्थानों को समझकर जानी जा सकती है। जिस तरह व्यक्ति शुभभाव रखकर गुणस्थानों पर चढ़ता है वैसे ही अशुभ भावों से अपने स्थान से गिरकर नीचे भी उतर सकता है। इसके लिए प्रतिपल अपने भावों के प्रति सतर्क रहना जरूरी है।

जब तक मनुष्य क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषाय भावों पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह अपने जीवन में सम्यक्त्व की ओर नहीं बढ़ सकता। इसलिए मन के इन विकारों पर विजय प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। यह तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति बाहरी स्थूल चीजों से हटकर अपने सूक्ष्म मन की ओर बढ़े और उसका चिंतन करे। अहिंसा, सत्य इत्यादि पाँचों सिद्धांतों का पालन करे। जब नियम पालन करना व्यक्ति का स्वभाव बनने लगता है तभी वह मानसिक रूप से शांत होकर अपनी आत्म-जागृति की ओर प्रवृत्त हो सकता है। मनुष्य इतना सक्षम है कि वह स्वयं इस जगत में शांति मय सुख पूर्वक जीवन जीते हुए आगामी भव में अपने लिए मोक्ष मार्ग भी प्रशस्त कर सकता है।

इन सभी भावों को समेटकर मैं मेरी कृति 'मधु सार' (जैन दर्शन चिंतनःजीवन साधना) आपके समक्ष प्रस्तुत कर रही हूँ। आशा करती हूँ मेरा यह प्रयास निश्चित रूप से आपके जीवन में एक नयी चेतना का संचार करेगा।

धन्यवाद।

मधु राजेंद्र सिंघी
नागपुर (महाराष्ट्र)
मो. ९४२२१०१९६३

पुनीत विचार

जैन दर्शन एक भाव प्रधान दर्शन है। जैन दर्शन के अनुसार मन के भाव ही हमारे कर्मबंध और मोक्ष के कारण बनते हैं। जीवन में हम यदि भावों से मजबूत हो जायें तो अपने जीवन में अवश्य सफल हो सकते हैं। मनुष्य जहाँ अच्छे भावों से भगवान बन सकता है वहीं बुरे भावों से शैतान बन सकता है। एक बार किसी श्रावक ने तीर्थंकर महावीर स्वामी जी से पूछा हमारी आत्मा भारी कैसे हो जाती है तो उन्होंने फरमाया कि हमारी आत्मा १८ प्रकार के पापबंध में पड़कर अपने आप पर अनंत भार लाद लेती है। इसी भार को छोड़ने से वह इतनी हल्की हो जाती है कि सीधा मोक्ष भी प्राप्त कर सकती है। अतः सच्चे सुधारक वही है जो पहले स्वयं के भावों का सुधार करते हैं। सांसारिक जीवन को सुखी बनाने के तीन अत्यंत आवश्यक सूत्र हैं :-

१) कम खाना - तन की शांति के लिए

२) गम खाना - पारिवारिक शांति के लिए

३) नम जाना - मानसिक शांति के लिए

हमारे समाज की जानी मानी कवयित्री माता श्रीमती मधु सिंघी जी भजन, दोहे, मुक्तक, गीत कविताएँ लिखकर पुस्तकें छपवा चुकी है। इनकी दोहे की पुस्तक मधुछंद और भजनों की पुस्तकें भजनावली, मधुश्रव्य इत्यादि पढ़ने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ है। अपने नाम के अनुसार इनके गद्य और पद्य हर तरह के लेखन में सरलता और मधुरता है। इनका लेखन एक गहरा भाव लिये हुए रहता है, जिसमें मानव मूल्यों की बात कही जाती है। समाज सेवा में अग्रणी मधु सिंघी जी को काफी संस्थाओं ने सम्मानित भी किया है। यह हमारे लिए बहुत गर्व की बात है। आज इनकी एक और नयी पुस्तक 'मधु सार' (जैन दर्शन चिंतनःजीवन साधना) प्रकाशित होने जा रही है, जिसमें जैनदर्शन को बहुत ही सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है। कुँडलिया छंद में जैन दर्शन का प्रयास अत्यंत सराहनीय है। इन्होंने

गद्य में जैन दर्शन के पाँच महाव्रत और जीव, अजीव, पाप, पुण्यों इत्यादि नव तत्वों के बारे में बताया है। बंध और आश्रव मोक्ष मार्ग में किस तरह बाधक है, संवर और निर्जरा करके किस तरह मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होना है, गुणस्थानों और लेश्याओं को भी समझाकर हमारे भावों का अपने जीवन में क्या महत्व है जिस तरह समझाया है यह आज की युवा पीढ़ी में जैन दर्शन के प्रति निश्चित रूप से जागरूकता बढ़ायेगा। जो आज के बदलते परिवेश में अत्यंत आवश्यक है।

श्रीमती मधु सिंघी जी के पिताजी भी अच्छे भजन लिखते थे। उनके सिद्धांतों और कला का अनुकरण करते हुए उनके आशीर्वाद से ये लेखन में और आगे बढ़ती गयी जो सचमुच प्रशंसा की बात है।

स्थानकवासी श्रमणसंघ के महान संत, तपस्वी गुरुदेव श्री सुमति प्रकाश जी महाराज साहब जी ने और वाचनाचार्य उपाध्याय प्रवर डॉक्टर श्री विशाल मुनि महाराज साहब जी ने आपकी इस पुस्तक की भूरी-भूरी प्रशंसा करते हुए आशीर्वाद एवं शुभकामनाएं भेजी हैं। आपने इस पुस्तक को बनाने में जो परिश्रम किया है वह तारिफे काबिल है। आपकी पुस्तक जन-जन के हाथों में जाये और सभी के जीवन को सही दिशा निर्देश देने में कामयाब हो। आपको नयी पुस्तक के लिए हार्दिक शुभकामनाएं। आपका सदैव साथ देने वाले आपके पति श्री राजेंद्र सिंघी जी और आपकी पुत्रियों को भी बहुत-बहुत शुभकामनाएं। सदैव आप लेखन के मार्ग पर नयी ऊँचाइयों को प्राप्त करें।

पुनीत मुनि (महादेव)
जैन नगर, मेरठ

◆◆

स्तुत्य प्रयास

श्रीमती मधु सिंघी जी का व्यक्तित्व बहुआयामी है। मधु कृति, मधु छंद, मधु श्रव्य और मधु काव्य इनके कविता संग्रह हैं। वे हिंदी के पुराने छंद, दोहा, रोला, कुंडलियां, सवैया, घनाक्षरी आदि छंदों की रचना में सिद्धहस्त हैं। इन्होंने जापानी छंद हाइकु, तांका, चौका आदि में भी कविता की सर्जना की है। इनके कविता संग्रह पुरस्कृत भी हुए हैं। छंदात्मक कविताओं की रचना में संगीत की भूमिका निर्विवाद है। संगीत और फोटोग्राफी में भी आप दखल रखती हैं।

श्रीमती मधु सिंघी जी के व्यक्तित्व का एक आयाम समाज सेविका का भी है 'समरूपण' नामक संस्था की स्थापना आप ने साल २००७ में की थी। यह संस्था अन्य समाजसेवी संस्थाओं से विलक्षण है। संस्था का नामकरण भी सुंदर व सार्थक है। इसका उद्देश्य समाज के दुर्बल घटक दिव्यांग, अनाथ बच्चों व महिलाओं को समाज की मुख्यधारा से जोड़कर समरूप बनाना है। इस संस्था को अध्यक्ष-सचिव जैसे पदों से मुक्त रखा गया है। सभी सदस्य मिलकर कार्य करते हैं। अनुदान दाता, प्रशिक्षक व युवा वर्ग इस से जुड़ा है। इनके द्वारा निर्मित हस्तकौशल वस्तुओं की बिक्री के लिए 'समाधान' (एक सहज जीवन यापन कला) नामक प्रदर्शनी का आयोजन किया जाता है।

प्रस्तुत कृति 'मधु सार' (जैन दर्शन चिंतनःजीवन साधना) जैन दर्शन सार है। इन्होंने अपने सभी कृतियों का नामकरण अपने नाम पर किया है। जैन दर्शन वीतराग, सर्वज्ञ, हितेषी केवल ज्ञानियों के द्वारा प्रज्ञप्त है। प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा निरूपित सत्य है। इसमें मति, श्रुत ज्ञानी सामान्य विद्वानों की तरह कल्पना व अनुमान को कोई अवकाश नहीं है। सर्वज्ञ की वाणी शब्दबद्ध करने वाले गणधर परमेष्ठी हैं। इसकी व्याख्या करने वाले आचार्य परमेष्ठी हैं।

द्वादशांग श्रुतज्ञान अधिकांश विलुप्त हो जाने पर भी जो शेष बचा है वह भी इतना विशाल है कि उसका समग्र अध्ययन संभव नहीं है। इसके अनेकानेक सिद्धांतों में से उदाहरण स्वरूप कर्म-सिद्धांत को ही लें तो वह

चेतना के लिए सूक्ष्म स्वरूप का उद्घाटन करता है। वह प्रत्यक्ष दर्शी केवली के द्वारा ही संभव है। कर्म सिद्धांत का समग्र प्रतिपादन सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्रियाओं की व्याख्या है। चैतन्य का परिणमन और सूक्ष्म कार्मण वर्गणाओं के पुद्गलों का परिणमन जिस सूक्ष्म स्तर पर घटित होता है वह इंद्रिय ग्राह्य नहीं है। कर्मसिद्धांत की इस व्याख्या से भावतंत्र और मानस तंत्र के रहस्यों को बौद्धिक तार्किक स्तर पर हृदयंगम करने का अवसर मिलता है। कर्म सिद्धांत का परिज्ञान करना मानो ब्रह्मांड के समस्त सूक्ष्म से लेकर स्थूल जीव एककोशीय जीव, विषाणु, जीवाणु (निगोद राशि के जीव) वनस्पति, जलचर, थलचर, नभचर, उभयचर, सरीसृप, वनमानुष, मनुष्य के साथ-साथ अप्रत्यक्ष स्वर्ग के देव, नारकी व असंसारी सिद्धों का ज्ञान करना है। अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, गुण स्थान आदि जैन दर्शन के मौलिक सिद्धांत हैं। आत्मवेत्ता ही अपनी आत्मा की अनंत ज्ञान-शक्ति से सूक्ष्म से सूक्ष्म कण को देख सकता है।

इस दृष्टांत का आशय यही है कि शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान भी कुछ लिखते या कहते वक्त भयभीत रहते हैं कि मुझसे कोई शब्द या कथन जिनवाणी के विरुद्ध न लिखा जाए। अतः जैन दर्शन के विषय में सामान्य व्यक्ति के लिए लिखना कठिन कार्य है। स्खलन की संभावनाएँ अधिक रहती है। इस स्थिति में मधु सिंघी जी ने जैन दर्शन पर लिखने का साहस व प्रयास किया वह स्तुत्य है। इन्होंने अपने लिखने का उद्देश्य बताया है। इस पुस्तक के द्वारा किशोर व युवा वर्ग को जैन दर्शन का सामान्य परिचय कराना है और इसी उद्देश्य से इन्होंने ज्ञान के भेद, महाव्रत, अणुव्रत, रत्नत्रय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, कर्मबंध, आस्रव, संवर, निर्जरा, गुणस्थान, दशधर्म, ध्यान, लेश्या आदि प्रमुख विषयों का संक्षिप्त प्ररूपण किया है। अपनी इस कृति के लिए ये अभिनंदन की पात्र हैं।

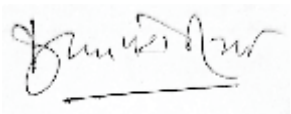

प्रो. (डॉ.) कुसुम पटोरिया
आजाद चौक,सदर,नागपुर-४४०००१
मो. ९८८१०१०७९८

Vijay Darda

Member of Parliament, Rajya Sabha (1998 - 2016)
Chairman, Lokmat Media Group

हर वक्त प्रासंगिक

क्या कभी आपने इस बात पर विचार किया है कि ढ़ाई हजार साल से भी ज्यादा पहले भागवान महावीर ने हम मनुष्यों को जो सीख दी थी, जो मार्ग बताया था वह आज भी उतना ही प्रासंगिक क्यों है? कहते हैं कि वक्त के साथ सब कुछ बदल जाता हैं, लेकिन इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि प्रकृति का मूल मंत्र कभी नहीं बदलता और सत्य में कभी बदलाव नहीं होता है। भगवान महावीर की दृष्टि काल और वक्त से परे थी इसलिए उन्होंने संपूर्ण मनुष्य जीवन के विस्तार को अपनी ध्यान साधना के माध्यम से देख लिया था। उन्हें इस बात की अनुभूति हो गई थी कि वक्त के किस मोड़ पर मनुष्य प्रकृति पथ से विमुख हो जाएगा। इसीलिए उन्होंने मनुष्य कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया, वो राह दिखाई जिस पर चल कर मनुष्य न केवल खुद का कल्याण कर सकता है, बल्कि इस पूरी सृष्टि के कल्याण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

ये बातें मैं इसलिए नहीं लिख रहा हूं कि मैं जैन धर्म का अनुयायी हूं। हां, मैं जैन धर्म के प्रति मन, कर्म और विचारों से पूरी आस्था रखता हूँ। वीर प्रभु के प्रति पूरी श्रद्धा रखता हूं, लेकिन इसके साथ ही मैं सभी धर्मों का आदर और सम्मान करता हूं। मैंने महसूस किया है कि धर्म कोई भी हो, वह मूल रुप से कल्याण का मार्ग ही प्रशस्त करता है। चूक उसके अनुयायियों से होती है।

अनुयायी की त्रुटि के लिए धर्म को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। देव विचारों की व्याख्या में मनुष्य कई बार चूक करता है। जो गहरी और गूढ़ बातें होती हैं उन्हें समझने में भूल कर जाता है। इसीलिए तो विभिन्न विद्वान समय-समय पर दैवीय विचारों की व्याख्या करते रहते हैं।

भगवान महावीर इस धरती पर अपनी यात्रा के दौरान जो भी संदेश दे गये, उन्हें समझने और उस पर अमल करने की जरुरत है। हमारे मुनिश्री और साध्वीश्री अपने आचरण से हमें उन्हीं संदेशों को समझाने की कोशिश करते हैं। यह हम पर निर्भर करता है कि हम उनकी बातों को कितना अंगीकार करते है। मुझे भगवान महावीर के जीवन काल की एक कहानी याद आ रही है। दीक्षा ग्रहण करने के अगले ही दिन वे उद्यान में ध्यानमग्न थे। एक व्यक्ति उनके पास आया ओर अपना बैल उनके पास छोड़ कर कहीं चला गया। उसने कहा कि मेरे बैलों का ध्यान रखना। जब वो लौटा तो बैल वहाँ नहीं थे। गुस्से में आकर उसने भगवान महावीर पर प्रहार करने की कोशिश की, लेकिन उसी समय देवराज इंद्र प्रकट हो गए। वह व्यक्ति भाग गया। देवराज इंद्र ने भगवान महावीर से कहा कि ऐसे लोग आपको पीड़ा देते रहेंगे, सुरक्षा के लिए मुझे आज्ञा दीजिए ! भगवान महावीर ने बड़ी विनम्रता से कहा कि देवराज की सहायता से अरिहंत नहीं बना जा सकता। साधना में दूसरा व्यक्ति सहायता नहीं कर सकता। सुरक्षा स्वीकार न करके भगवान महावीर ने स्वावलंबन का बहुत बड़ा संदेश दिया। क्या कभी हमने इस बात को समझने की कोशिश की? यदि व्यक्ति के जीवन में स्वावलंबन आ जाए तो किसी वस्तु की कोई कमी नहीं रह जाएगी। यदि कहीं हो भी तो वह हमारी लालसा के कारण होगी। इसीलिए भगवान महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धांत भी दिया। स्वावलंबन और अपरिग्रह के विचारों का युग्म मनुष्य जीवन को गहराई तक बदल सकता है।

भगवान महावीर के जीवन की जितनी भी घटनाएं हैं वे कोई न कोई संदेश देती है। आपको पता ही होगा कि एक बार वेगवती नदी के किनारे

भगवान महावीर साधना में लीन थे। वहीं शूलपाणी नाम का एक यक्ष भी निवास करता था। उसने जब भगवान महावीर को ध्यान में लीन देखा तो उत्पात शुरु कर दिया। बहुत कोशिश की कि भगवान महावीर भयभीत हो जाए, लेकिन यक्ष सफल नहीं हो पाया। उसे लगा कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। वह भगवान महावीर के पास आया और क्षमा मांगने लगा। वीर प्रभु ने कहा कि हिंसा का जवाब हिंसा से देने से ही हिंसा फैलती है। आतंकित व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता और जिसके भीतर भय होता है, वही भयभीत होता है।

आज के संदर्भ में यदि देखें तो कितनी बड़ी बात वीर प्रभु ने उस यक्ष से कही ! आज पूरी दुनिया में क्या हो रहा है? हिंसा का बोलबाला क्यों है? क्योंकि हिंसा का जवाब हिंसा से दिया जा रहा है। हिंसा के मूल को तलाशने की बजाय उसकी हरकतों पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है। हिंसा ने पूरी दुनिया को चपेट में ले लिया है। दुर्भाग्य की बात है कि मनुष्य के भीतर हिंसा को हिंसा से खत्म करने का भाव पैदा हो गया है। इसका दुष्परिणाम सबके सामने है। हम मनुष्यों ने इतने परमाणु बम और इतने हाइड्रोजन बम तैयार कर लिए हैं कि इस धरती को समाप्त करने में कुछ सेकेंड्स भी नहीं लगेंगे! यह कितनी बड़ी विडंबना है! यदि हम वीर प्रभु की बात मान लें तो हिंसा का समूल नाश हो सकता है। क्या आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया कि महात्मा गांधी ने इस सत्य और अहिंसा को अंगीकार करके वह कर दिखाया जो उनके पहले कोई नहीं कर पाया था। उन्होंने भारत को ऐसे ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति दिला दी जिसका साम्राज्य इतना फैला था कि उसके राज में कभी सूरज नहीं डूबता था। भगवान महावीर ने अहिंसा की ताकत को अपने दिव्य ज्ञान से समझ लिया था इसलिए उन्होंने हमें ये सीख दी। हमारे सामने जब गांधीजी जैसा उदाहरण है तब भी हम अहिंसा की बात क्यों नहीं करते हैं?

निश्चय ही भगवान महावीर के सिद्धांतों में सत्य, अहिंसा,

अपरिग्रह जैसे तत्व तो बेमिसाल हैं ही, मुझे सबसे त्यादा महत्वपूर्ण सिद्धांत क्षमा भाव लगा है। जिस समय मनुष्य के जीवन में क्षमा भाव आ जाता हे उसी पल हिंसा खत्म हो जाती है। व्यक्ति विनम्र हो जाता है और त्याग करने की भावना पैदा हो जाती है। एक बार आप क्षमा करके देखिए! आप तो तनाव और कलुष से मुक्त हो ही जाते हैं औरों को भी मुक्त कर देते हैं। क्षमा करने के बाद जो एहसास आपको मिलता है वह जीवन बदल देता है। इसलिए चाहे उपवास, अपरिग्रह, मानवता, विश्व कल्याण या बंधुत्व की बात हो, सबमें क्षमा सबसे बहुत महत्वपूर्ण है।

आज पूरी दुनिया पर्यावरण की बात कर रही है, लेकिन महावीर स्वामी ने ढाई हजार साल से भी ज्यादा पहले पर्यावरण की बात की। आपको पता ही होगा कि सामायिक में पेड़ पौधों, चौरासी लाख जीव योनियों, विचलित अविचलित कोटि-कोटि तत्वों से भी क्षमा मांगी जाती है। यहां तक कि खुद से भी क्षमा मांगी जाती है। पर्यावरण संरक्षण का इससे बेहतर कोई और उदाहरण नहीं मिलता है। मेरे कहने का आशय यह है कि भगवान महावीर ने जो भी बातें की हैं या उनके जीवन की जितनी भी घटनाएं हैं, उन्हें केवल एक कहानी के रूप में हम न पढ़ें, बल्कि यह समझने की कोशिश करें कि उन्होंने कहा क्या है? उनका आशय क्या है? आज के संदर्भ में उसकी व्याख्या क्या है? मुझे खुशी है कि श्रीमती मधु राजेंद्र सिंघी ने जैन आचार, विचार और वीर प्रभु के संदेशों को सामान्य शब्दों में लोगों को समझाने के लिए एक सराहनीय प्रयास किया है। मुझे उम्मीद है कि 'मधु सार' (जैन दर्शन चिंतनःजीवन साधना) के संदर्भ में भगवान महावीर से लेकर आज तक की जो यात्रा है वह पथ प्रदर्शक साबित होगी। यह पुस्तक इस मायने में खास है कि श्रीमती मधु राजेंद्र सिंघी अत्यंत विचारवान घरेलू महिला है। उन्होंने वीर प्रभु के पथ को जैसा समझा, जैसा जाना और जिस तरह से जीवन में उतारा उसे शब्दों में अभिव्यक्त किया है अर्थात् यह पुस्तक सैद्धांतिक नहीं, बल्कि

प्रैक्टिकल है। मधु जी अत्यंत चिंतनशील महिला है। उनकी कविताओं से मैं कई बार रूबरू हुआ हूँ। वे हर शब्द का चयन बहुत सोच समझकर करती है। मुझे उनके हर शब्द का मोल समझ में आता है।

मेरी हमेशा से यही धारणा रही है कि भगवान महावीर को हम जितना बेहतर समझ पाएंगे, जीवन उतना ही सरल और सहज होता चला जाएगा। भगवान महावीर के उपदेश पूरी तरह से वैज्ञानिक साबित हो चुके हैं। विज्ञान आज कह रहा है कि यदि आप शाम से पहले भोजन कर लें तो आपका शरीर रोगों से काफी दूर रहेगा। भगवान महावीर ने यह संदेश ढ़ाई हजार साल से भी ज्यादा पहले दे दिया था। विज्ञान कहता है कि हमें सात्विक आहार और वह भी केवल जरुरत के अनुरूप लेना चाहिए। भगवान महावीर ने इस विज्ञान को ढाई हजार साल से भी ज्यादा पहले प्रतिपादित कर दिया था। वास्तव में यदि हम वीर प्रभु के उपदेशों के अनुरूप आहार, विहार और आचरण करें तो इह लोक तो क्या परलोक भी सुधर जाएगा। इस पुस्तक के लिए मेरी ढ़ेर सारी शुभकामनाएँ।

विजय दर्डा
राष्ट्रीय अध्यक्ष, सकल जैन समाज

AJAY SANCHETI
Former Member of Parliament (Rajya Sabha)

अजय संचेती
पूर्व संसद सदस्य (राज्य सभा)

शुभ संदेश

श्रीमती मधुजी सिंघी, ता. २६/०७/२०२२

आपकी आने वाली पुस्तक 'मधु सार' (जैन दर्शन चिंतनःजीवन साधना) की आपको बधाई और शुभकामनाएँ। आपसे पुस्तक के बारे में चर्चा हुई, व्यक्ति सांसारिक जीवन में कार्य करते हुए अपने मन पर काबू रख कर कैसे मुक्ति और मोक्ष के मार्ग की ओर अग्रसर हो सकता है, इस बारे में आपके विचार जाने।

गुरु बिना ज्ञान नहीं, नियम बिना मोक्ष नहीं यह साधारण वाक्य जीवन के पूरक वाक्य हैं। मोह, माया, आसक्ति पूर्ण जीवन में जहाँ रोज मन भटकता है, भ्रम के जाल को मनुष्य वास्तविकता समझता है, वहाँ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर वह मोक्ष के मार्ग की ओर चल निकलता है।

जैन दर्शन को जीवन दर्शन के रूप में समझने के लिए 'मधु सार' आपको सोचने पर मजबूर कर देगी, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। आपके इस सफल प्रयास को मेरा साधुवाद।

धन्यवाद।

अजय संचेती

अजय संचेती
नागपुर

20, IT Park, Parsodi, Nagpur - 440 022, India Ph.: +91-712-7125000, 7126300
Fax : +91-712-7125100, E-mail : ajaysancheti@yahoo.com

समर्पण

मेरी पुस्तक 'मधु सार'
(जैन दर्शन चिंतनः जीवन साधना)
मैं विशेष रूप से मेरी पुत्री श्रीमती ऋचा बोरा को
समर्पित करती हूँ, जिसने मुझे जैन दर्शन पर लिखने
के लिए प्रेरित किया। इसी कारण से मेरे अंदर जैन
दर्शन को समझने और उस पर लिखने के भाव
जागृत हुए। मेरा कोरोना काल भी सकारात्मक भावों
के साथ सहज रूप से बीत गया। मेरे दामाद
श्री वरदान बोरा का आभार मानती हूँ, जिन्होंने इस
पुस्तक को सुंदर बनाने का अथक प्रयास किया।
मेरे प्रेरणास्रोत मेरे पति राजेंद्र सिंघी जी का बहुत-
बहुत धन्यवाद जिनका सहयोग सदैव बना रहता है।

मधु राजेंद्र सिंघी

अनुक्रमणिका

अ नु क्र म णि का

०१) जीवन जीने की कला	०१
०२) जैन दर्शन एक भाव दर्शन	०७
०३) पंच महाव्रत	११
०४) अहिंसा	१३
०५) सत्य	२३
०६) अस्तेय (अचौर्य)	२५
०७) अपरिग्रह	२७
०८) ब्रह्मचर्य	२९
०९) त्रिरत्न	३२
१०) सम्यग्दर्शन	३६
११) सम्यग्ज्ञान	३८
१२) जीव	४६
१३) अजीव	५२
१४) कर्मबंध	५८
१५) पाप	८४
१६) पुण्य	९३
१७) आस्रव	१०४
१८) संवर	११३
१९) निर्जरा	१२५
२०) ध्यान	१३३
२१) लब्धियाँ	१५०
२२) गुणस्थान	१५५
२३) लेश्याएँ	१७३

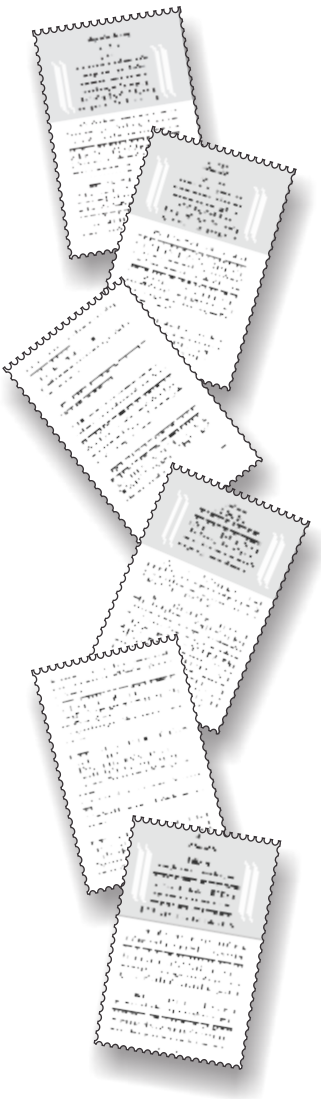

महा मंत्र

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं,
णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं
एसो पंच-णमोक्कारो
सव्व-पाव-पणासणो
मंगला णं च सव्वेसिं
पढ़मं हवई मंगलं।

अध्याय - १

जीवन जीने की कला

कुंडलिया छंद

बंधन जीव अजीव में, बंधी जगत की डोर।
अनंतानुबंधी बना, पुद्गल कर्म बटोर।।
पुद्गल कर्म बटोर, जाल में ये तो उलझा।
कैसे तोड़ें जाल, प्रश्न तो है अनसुलझा।।
सोचे 'मधु' यह जीव, करे सदियों से क्रंदन।
कैसा अद्भुत योग, जीव अजीव का बंधन।।१।।

अर्थः - जीव अनंत काल से अजीव के साथ बंधन में बंध कर जगत में आवागमन कर रहा है। वह अजीव रूपी कर्म पुद्गलों के जाल में इस कदर उलझ गया है कि जीव को उससे अलग होने का भाव भी नहीं आता है। उसे अपने शुद्ध स्वरूप आत्मा का बोध नहीं है। इसलिए वह ज्यादातर विचलित रहता है। वह अपने स्वरूप को कैसे पहचाने उसे इसका मार्ग नहीं मिल पा रहा है। जीव कुछ समय ठहर कर यदि चिंतन करे तो अपने शुद्ध स्वरूप आत्मा को पहचान कर शांति से इस समस्या का समाधान खोज सकेगा।

व्याख्याः - आज मनुष्य इस जगत के माया जाल में इतना उलझ गया है कि उसको इस बात का ख्याल ही नहीं आता है कि जिस आत्मा ने उसकी सरंचना की है और जो उसके हर गतिविधि का कर्ता और भोक्ता है वह उसी से अनभिज्ञ है यह कैसी विडंबना है। यह तो ऐसा हो गया कि जिसके घर में हम रहते हैं और उसी को नहीं जानते। अगर वह एकांत में इस बात का

चिंतन करे तो समझ में आ सकता है। अगर अपने मन को बाहरी उलझनों से हटाकर अंदर की तरफ झाँके तो धीरे-धीरे स्वतः समझ में आयेगा।

जब हम कभी आँखें बंद करके बैठते हैं तब असंख्य विचार हमारे मन में उठने लगते हैं जो हमारे दिन प्रतिदिन के क्रिया कलापों से जुड़े होते हैं। इससे यह तय हो जाता है कि हमारा मन सिर्फ रोज की दिनचर्या में ही उलझा हुआ है। फिर वह अपनी आत्मा को कैसे पहचाने यह प्रश्न कुछ ही जीवों के मन में उठता है जो सचमुच चिंतन का विषय है।

आत्मा चौरासी लाख जीव योनियों से गुजरते हुए जब अच्छे कर्म कर लेती है तब जाकर कहीं उसे मनुष्य जन्म मिलता है। यह जन्म लेने के बाद आत्मा जो अजीव तत्व (कर्मों) के साथ बंधी हुई इस जीव जगत में प्रवेश करती है तो वह इसी बाहरी जगत को अपना समझ लेती है अपने मूल स्वरूप और गुणधर्म ही भूल जाती है, क्योंकि आत्मा कर्म रूपी अजीव तत्वों के साथ ऐसे घुल मिल गई है कि वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं जान पाती है। यही कारण है कि उसे अपने स्वरूप के बारे में गहन चिंतन करने की आवश्यकता है। यह विचार कुछ पुण्यवान जीवों के ही मन में उठता है तब वे यह ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

◆◆

कुंडलिया छंद

चिंतन प्रवाह मोड़ कर, जो कर ले स्थिर भाव।
मन की दृढ़ता फिर बने, अद्भुत तेज प्रभाव।।
अद्भुत तेज प्रभाव, आत्म केंद्रित मन रहता।
करे चिंता निरोध, सूक्ष्म अवलोकन बहता।
ध्यान रहे 'मधु' बात, सतत भावों का मंथन।
मिलता फिर नवनीत, सदा ही करना चिंतन।।२।।

अर्थ:- जब हम शांत होकर भावों को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं तो हमारी एकाग्रता बढ़ती है। हमारे मन के अंदर जो सूक्ष्म मन चित्त है उसके द्वारा भाव ग्रंथियाँ खुलने लगती है। इससे हमारे अंदर ऐसे सकारात्मक परिवर्तन आते हैं जो अकल्पनीय है। ये हमारे जीवन की दिशा बदल देते हैं।

व्याख्या:- मनुष्य जब इस सांसारिक आपाधापी को छोड़ कर अपने अंदर झाँकने का प्रयत्न करेगा और स्वयं थोड़ी देर शांत होकर बैठेगा तभी उसे समझ में आयेगा कि वह स्वयं आखिर चाहता क्या है? जब व्यक्ति अपने मन को आत्मकेंद्रित कर पाता है तब उसके अंदर एक अद्भुत तेजोमय शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यही शक्ति मन के अवलोकन की सूक्ष्मता को कई गुणा बढ़ा देती है। यही ध्यान कहलाता है। ध्यान से जब अपने मन का मंथन होता है तब सम्यक्त्व चिंतन रूपी मक्खन की प्राप्ति अवश्य होती है। इसका स्वाद जो चख पाते हैं फिर उनका बाहरी जगत का भटकाव स्वतः कम होने लग जाता है। ऐसे व्यक्तियों को अपने जीवन का उद्देश्य स्वयं समझ में आने लग जाता है। वे खुद समझने लग जाते हैं कि उनकी जरूरतें तो बहुत सीमित

है। वे सिर्फ सांसारिक दौड़ में शामिल हैं जहाँ बाहरी जगत में अपने से सक्षम लोगों को देखकर ईर्ष्या वश वे उनसे होड़ करने में लगे हुए हैं। इस चक्कर में वे अपने आप से ही बहुत दूर होते जा रहे हैं। फिर उन्हें यह सब बातें स्वतः निरर्थक लगने लग जाती हैं। अपने मूल स्वभाव में लौटने के लिए उन्हें अपनी इच्छाओं को सीमित करने की बात स्वयं ही समझ में आने लग जाती है। फिर वे शांत होकर आत्मचिंतन कर सकते हैं।

आज हर व्यक्ति तन, मन और धन से संसार की हर सुख-सुविधा को जुटाने का लगातार प्रयास करता जा रहा है। यह प्रकृति तो संपूर्ण जीव जगत के लिए है जिस पर मनुष्य सिर्फ अपना ही हक समझने लगा है इसीलिए प्रकृति का संतुलन भी बिगड़ता जा रहा है यह बात जब स्वयं को समझ में आ जायेगी तो हर व्यक्ति अपनी जरूरत जितना ही संसाधन एकत्रित करेगा। उसका लोभ-लालच स्वयं कम होने लग जायेगा । वह दूसरों से बेहतर बनने की नहीं सोचेगा। वह अपनी इंद्रियों पर स्वयं ही अंकुश लगाने का प्रयत्न करेगा फिर संतुष्ट होकर आत्मिक शांति की यात्रा की ओर स्वतः अग्रसर हो जायेगा।

तीर्थंकर महावीर स्वामी ने आत्मज्ञान प्राप्त करने के पश्चात सांसारिक मनुष्यों को सही राह पर चलने के लिए नैतिक मूल्यों का पालन करना अनिवार्य बताया, जिससे मनुष्य इस लोक में संतुष्टि भरा जीवन जी सके और अगले जन्म को अच्छा बनाने के लिए अपने आत्मशुद्धि के मार्ग की ओर भी प्रवृत्त हो सके।

◆◆

कुंडलिया छंद

मानव बस मानव रहे, करना अच्छे कर्म।
जीवन जीने की कला, सदा सिखाये धर्म।।
सदा सिखाये धर्म, प्रेम प्राणी से करना।
यही समझ लें मर्म, बहे समता का झरना।।
हो प्रयास 'मधु' रोज, जान लें पहले आस्रव।
खुलते अंतस द्वार, जाग जाता फिर मानव।।३।।

अर्थः- धर्म हमें जीवन जीने की कला सिखाता है। हम धीरे-धीरे जानने लगते हैं कि समस्त प्राणी जगत में सबकी मूल आत्मा तो एक जैसी ही होती है इसलिए सबके प्रति सम भाव रखना ही मानवता है। यही सोच हमारे अंतस के द्वार खोल देती है, परंतु इसके लिए हमें यह सांसारिक लोभ-लालच को छोड़कर कुछ देर के लिए चिंतन अवश्य करना होगा कि हम किस तरह आस्रवों को अपने जीवन में आने से रोकें, क्योंकि आस्रव ही कर्म बंध के द्वार हैं।

व्याख्याः- हर व्यक्ति का अपना मूल स्वभाव होता है। वह अपनी सोच के अनुसार कर्म करता है और दूसरों के कार्यों को देखकर अपनी समझ के हिसाब से ही प्रतिक्रियाएँ देता है। यही व्यवहार अपने और दूसरों के लिए कभी सुखद तो कभी दुखद भी हो जाता है। इसी सोच के साथ सब के मन में कभी अच्छे तो कभी बुरे भाव उत्पन्न होते रहते हैं।

इंसान अपने आपको लोभ और मोह के वशीभूत होकर खुद ही भ्रमित करता रहता है फिर सही-गलत के फर्क को नहीं समझ पाता है। इस

ऊहापोह में कई बार वह अपना मूल धर्म इंसानियत ही भूल जाता है। इन सभी बातों को गहराई से समझने के लिए जीवन की भागदौड़ छोड़कर हमें चिंतन करने की जरूरत है। मन के विकारों को छोड़कर समस्त जीव जगत से प्रेम करने की जरूरत है। ऐसे सभी धर्म हमें जीवन जीने की यही कला सिखाते हैं बस हमें अपने अंतर द्वार खोलकर अपने भावों को परिष्कृत कर के सुकर्म करने की आवश्यकता है।

◆◆

अध्याय - २

जैनदर्शन एक भाव दर्शन

कुंडलिया छंद

जानें जिनवाणी कभी, तभी बनेंगे जैन।
बचकर रहे अधर्म से, मिलता मन को चैन।।
मिलता मन को चैन, कटे कर्मों के घेरे।
शुभता से दें छोड़, कई जन्मों के फेरे।।
कहती है 'मधु' बात, मोक्ष ही अंतिम मानें।
आत्मशुद्धि का मार्ग, शुद्ध भावों को जानें।।४।।

अर्थः- धर्म का अर्थ है अपनी आत्मा की शुद्धि करना। जो मनुष्य अधर्म को छोड़कर धर्म की राह पर निकल जाता है वह सदैव शांति पूर्वक जीवन जीते हुए मोक्ष मार्ग को जानने का प्रयत्न करने लगता है। धर्म हमें सिखाता है कि हमारे कर्म बंधन के लिए हमारे भाव ही जिम्मेदार हैं। शुद्ध भावों से पुण्य बंध और अशुद्ध भावों से पाप बंध होते हैं। कर्मों की निर्जरा करना अर्थात् उनसे छुटकारा पाना ही सच्चा धर्म है। अशुभ से शुभ भावों की ओर और शुभ भावों से शुद्ध भावों की ओर की यात्रा ही मुक्ति मार्ग है। इसी पर चलकर मोक्ष की प्राप्ति संभव हो सकती है।

व्याख्याः- जैन दर्शन एक भाव दर्शन है। यह अपनी आत्मा की शुद्धि का धर्म है। अपने अशुभ भावों को मन से हटाकर यह शुद्धि स्वयं ही की जा सकती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर कर्मों का आवरण है वे ही आत्मा का निरंतर घात कर रहे हैं। आत्मा मजबूरन इन कर्मों को भोगने के लिए इस संसार में आवागमन कर सुख-दुख भोग रही है। अपने कर्म-

बंधनों से सदा-सदा के लिए आत्मा को मुक्त करवाना ही जैन दर्शन का उद्देश्य है। यह कार्य सिर्फ मनुष्य गति में ही संभव हो सकता है, क्योंकि मनुष्य पंचेन्द्रिय जाति का सैनी जीव है जिसके पास मन होता है। संसार में बाकी सभी प्राणियों के अपना भला बुरा समझने के लिए मन नहीं होता है। मनुष्य के मन में ही भाव बनते बिगड़ते रहते हैं। इन भावों पर अंकुश लगाया जा सकता है और शुद्ध भी किया जा सकता है जो मुश्किल जरूर है पर असंभव नहीं है।

यह मन ही व्यक्ति को पहले लोभ-लालच में कुछ न कुछ पाने के लिए मजबूर करता है फिर वह उस प्राप्त की हुई वस्तु से इतना लगाव रखता है कि उसके खोने के डर से भयभीत रहता है। यहाँ तक कि इस डर के कारण ही हर मनुष्य भगवान की शरण में जाता है और उनसे सहायता पाने के लिए अपने जीवन में किसी न किसी धर्म का पालन करने लग जाता है। धर्म पालन करते समय भी कई बार लालसा बढ़ती चली जाती है। लालच में किया हुआ कोई भी कार्य व्यक्ति को और ज्यादा कर्म बंधन के भंवर जाल में फंसा देता है।

हालांकि सभी धर्म अच्छे कर्म करने का मार्ग बताते हैं जिससे सभी मनुष्य दयालु और परोपकारी बनने का प्रयत्न करते हैं। इससे वे पाप-पुण्य का भेद तो समझ जाते हैं, लेकिन फिर वो पाप-पुण्य के भंवर-जाल में भी और उलझ कर फंसते ही चले जाते हैं । स्वर्ग का लोभ और नरक का भय भी उनके मन को वो आत्मिक शांति नहीं दे पाते हैं जो उनके अंदर बैठी आत्मा की जरूरत है। जैन दर्शन इस पाप-पुण्य को भी आत्मा का बंधन मानता है और इससे भी सर्वथा मुक्त होकर आत्मा के परम शांति की बात कहता है। व्यक्ति को स्वयं अपनी आत्मा का कल्याण करने और निडर होकर जीवन जीने का मार्ग बताता है।

जब तक मनुष्य क्रोध, मान, माया और लोभ इन मुख्य कषाय भावों पर पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक अपने मन में समता भाव

नहीं ला सकता है। समता भाव के बिना सुख-शांति से जीवन नहीं जिया जा सकता। इसलिए इन कषाय भावों पर विजय पाना अत्यंत आवश्यक है। जैन धर्म के अनुसार सम्यक्त्व का भाव (शुद्ध भाव) ही मन के विकारों को शांत कर सकता है, क्योंकि यह सम्यक्त्व भाव ही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है।

ज्यादातर धर्म पुण्य करने के लिए प्रेरित करते हैं, लेकिन पुण्य करने के दौरान भी कई बार मन में भावों के उतार चढ़ाव के कारण कर्म बंधन होते रहते हैं , जिन्हें जैन दर्शन पुण्यानुबंधी पाप(बिना बुरे भावों को मन में लाये अनायास ही किसी के दुख का कारण बन जाना) कहता है। व्यक्ति को इनसे भी बचने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे मनुष्य के अंदर स्थित आत्मा अपने मूल स्वभाव में स्थित होकर पूर्ण आनंद की प्राप्ति कर सके।

यह तभी संभव हो सकेगा जब व्यक्ति बाहरी स्थूल चीजों से हटकर सूक्ष्मता की ओर बढ़े, उसका चिंतन करे फिर हर व्यक्ति इस जीवन में भी सुकून से जी सकता है और मृत्यु के पश्चात उसकी आत्मा भी शुद्ध होकर अपने मूलस्थान ऊर्ध्व लोक में स्थित हो सकती है। इसके लिए मनुष्य को स्वयं अपने पूर्ण मनोयोग से प्रयत्न करने की आवश्यकता है, जो इसी जन्म में संभव है। इसलिए जैन दर्शन के अनुसार अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर समस्त कर्मों का क्षय करना मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य है।

◆◆

कुंडलिया छंद

करती भोग इंन्द्रियाँ, अद्भुत सुख का स्वाद।
विषयों में डूबी रहे, मन से वाद विवाद।।
मन से वाद विवाद, जीव उलझा रह जाये।
मूल तत्त्व की टोह, नहीं विकल्प मिल पाये।।
आत्मा पर 'मधु' बंध, कर्म का बोझा भरती।
रखना मन को बाँध, कामना विचलित करती।।५।।

अर्थ:- हमारी पाँचों इंद्रियों के द्वारा जो मन को सुख मिलते हैं वे क्षणिक है इससे कभी मन ज्यादा देर प्रसन्न नहीं होता है, क्योंकि इंद्रियाँ कभी पूर्ण रूप से तृप्त नहीं होती है इसलिए इच्छाएँ बढ़ती ही जाती है। इस उलझन में फंसा हमारा मन विचलित ही रहता है इसलिए हमें इससे ऊपर उठकर अपनी मूल आत्मिक आनंद की खोज करनी चाहिए।

व्याख्या:- तीर्थंकर महावीर स्वामी के अनुसार इंद्रियाँ विषयों में डूबकर सुख पाने के लिए सदैव आतुर रहती हैं। इंद्रिय-सुख का स्वाद बहुत ही अद्भुत होता है। इसी कारण से इंद्रियों के वशीभूत होकर आत्मा निरंतर पाप कर्मों के बोझ तले दबी जा रही है। अपनी इंद्रियों के सुख तो क्षणिक होते हैं फिर कब तक इंद्रियों को विषयों में लिप्त रखेंगे। कब तक हम अपनी इच्छाओं के पीछे भागते रहेंगे। हमें अपने इंद्रियों के छोटे-छोटे सुखों को छोड़कर पूर्ण आनंद प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इंद्रियां को विषय सुख की प्राप्ति नहीं होने पर मन के विकार और बढ़ते हैं और यही आत्मा का घात करते हैं। इन बातों को भलीभांति समझने के लिए सभी मनुष्यों को अपने मूल आत्मा के स्वरूप को जानने और समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

यही मार्ग सब के लिए श्रेयस्कर है। तभी पूर्ण आनंद की प्राप्ति संभव हो सकेगी। इसके लिए सर्व प्रथम हर मनुष्य को पाँच मूलभूत सिद्धांतों का पालन करना अत्यंत आवश्यक है, जिन्हें पंच महाव्रत कहा जाता है।

अध्याय - ३

पंच महाव्रत

(जैन धर्म के पाँच सिद्धांत)

कुंडलिया छंद

चलते सच के साथ जो, रखे अहिंसा मान।
अपरिग्रह अस्तेय नियम, ब्रह्मचर्य का भान।।
ब्रह्मचर्य का भान, सदा रहता सुखदायी।
जीवन की है शान, सदाचारी फलदायी।।
जो नहीं 'मधु' सुधार, हाथ फिर रहता मलते।
कभी न वो पछताय, साथ नियमों के चलते।।६।।

अर्थ:- अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य इन पाँचों नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति सदैव शांति से जीवन जीता है, अन्यथा बहुत दुख उठाने पड़ते हैं। नियम में रहने से मन को सुख मिलता है। उस व्यक्ति को फिर किसी भी बात का पछतावा नहीं रहता है।

व्याख्या:- इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पाँच मूलभूत सिद्धांतों को समझना और पूर्ण मनोयोग से इनका व्यवहार में पालन करना जीवन जीने की एक ऐसी शैली है जो सांसारिक पाप कर्म से बचाकर हमें मुक्ति मार्ग की ओर अग्रसर कर देती है। इन नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति कभी पछतावे की आग में नहीं जलता है। वह संतुष्ट होकर जीवन जीता है। जो इन नियमों का पालन नहीं कर सकता है वह अपने में पूर्ण सुधार नहीं कर सकता है और वह जीवन में बहुत कुछ खो देता है। महावीर स्वामी के बताये हुए पाँच नियम इस प्रकार है -

१) अहिंसा:- मनुष्य को समस्त जीवों के साथ प्रेम का भाव रखते हुए मन, वचन और काया से उन्हें हानि नहीं पहुँचाना और किसी भी परिस्थिति में दूसरे पर विपदा आने पर उनके साथ दया और सहयोग का भाव रखना सच्ची अहिंसा है।

२) सत्य:- जीवन में सदैव सत्य के मार्ग पर चलते हुए अपने हर कार्य को पूरी सच्चाई और निष्ठा के साथ स्वहित को छोड़कर समूचे प्राणी जगत के हित का ध्यान रखते हुए करना। यह अपने मूल आत्मा के स्वरूप को पहचानने की प्रथम सीढ़ी है।

३) अस्तेय (अचौर्य):- दूसरों के अधिकार क्षैत्र में आने वाली किसी भी वस्तु को उस व्यक्ति को पूछे बिना उपयोग में लेना, चुरा लेना और ऐसा करने का भाव मन में लाना सर्वथा पाप है।

४) अपरिग्रह:- अपनी जरूरत से ज्यादा किसी भी वस्तु, व्यक्ति और क्षैत्र के विस्तार में नहीं उलझना। इसमें उलझना ही हमें जबरन परिग्रह (संग्रह) करवाता है और साथ ही हमारे शुद्ध स्वरूप आत्मज्ञान प्राप्त करने में बाधक है। यहाँ तक कि यह शरीर भी एक निश्चित समय के लिए ही हमारा है इससे भी ज्यादा मोह नहीं रखना।

५) ब्रह्मचर्य:- अपनी मन की सभी इच्छाओं को सीमित रखते हुए इंद्रियों पर स्वयं नियंत्रण रखना और विषय भोग से ऊपर उठकर अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की खोज करना सच्चा ब्रह्मचर्य है।

इन नियमों का पालन करते हुए जो लोग अनुशासन में जीवन व्यतीत करते हैं उन मनुष्यों की आत्मा स्वयं निर्मल होती रहती है। इसे थोड़ा और विस्तार से समझते हैं।

◆◆

अध्याय - ४

अहिंसा

कुंडलिया छंद

क्रोधी बनते राग से, मूल राग अरु द्वेष।
भावों में जो दंभ हो, हिंसा करे विशेष।।
हिंसा करे विशेष, सभी पर होते हावी।
हिंसा मन से दूर, सुधारे जीवन भावी।।
क्रोध रहे 'मधु' संग, यही संयम अवरोधी।
करना सोच विचार, कभी मत बनना क्रोधी।।७।।

अर्थ:- जब व्यक्ति के मन में किसी के प्रति राग या द्वेष होता है तभी वह क्रोध करता है। क्रोधवश मनुष्य अहंकारी हो जाता है। क्रोध, मान, माया लोभ रूपी कषायभाव ही मनुष्य से हिंसा करवाते हैं। ये भाव संयम के विरोधी हैं। क्रोध आदि से दूर रहकर अहिंसा का मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर होता है।

व्याख्या:- अहिंसा के मार्ग पर चलना जैनधर्म का मुख्य सिद्धांत है। मन, वचन और काया के द्वारा किसी को भी कष्ट नहीं पहुँचाना और दूसरे किसी प्राणी पर कष्ट आये तो उसकी रक्षा करने के लिए तत्पर रहना यही अहिंसा के मार्ग पर चलना है। किसी का हित-अहित सोचने की प्रवृत्ति सिर्फ मनुष्य में ही निहित है, क्यों कि उसके पास सोचने के लिए मन होता है। बाकी जगत के प्राणी सिर्फ अपनी क्षुधा शांत करने के लिए ही सतत कर्मशील रहते हैं। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपने भावों के बल से पाप-पुण्यों की मात्राओं

को घटाने और बढ़ाने में सक्षम होता है। इसीलिए मनुष्य जन्म को दुर्लभ कहा गया है। यह मनुष्य जन्म ही अपनी आत्मा को शुद्ध करने का सुअवसर प्रदान करता है जो किसी भी जीव को बड़ी मुश्किल से उपलब्ध होता है।

हर व्यक्ति के मन में राग और द्वेष के भाव चलते रहते हैं अगर कोई अगला व्यक्ति उसके मन के अनुसार कार्य करे तो मन प्रसन्न हो जाता है और नहीं करे तब उसके अहं की तुष्टि नहीं होती है, जिससे वह स्वतः क्रोधित होने लगता है और उस व्यक्ति का क्रोधी होना भी उसे स्वयं तो स्वाभाविक सा लगने लगता है, परंतु वह जाने-अनजाने में दूसरे के प्रति मानसिक हिंसा कर बैठता है। इसलिए मन और वाणी पर काबू पाते हुए मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा को रोकने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करने के हमारे जब विचार पुख्ता हो जायेंगे तो वैसे ही सोच के साथ हम कर्म भी करने लगेंगे।

◆◆

कुंडलिया छंद

कटुता जब मन में रहे, तब चुप्पी अनमोल।
उलझन सतत बढ़े नहीं, थमते कड़वे बोल।।
थमते कड़वे बोल, कहे बिन ये तो बोले।
गहरा रहे प्रभाव, नहीं अपना मुख खोले।।
कड़वे जो 'मधु' भाव, रहे फिर वाणी पटुता।
करना सदा प्रयास, मिटे भावों में कटुता।।८।।

अर्थ:- जब कभी हमारे मन में क्रोध के भाव उत्पन्न हो जाय तब मौन रहना ही उत्तम होता है। कम से कम हम कड़वा बोलने से बच जाते हैं। बिना बोले मौन भी सब कुछ कह सकता है। हमारे मौन का दूसरों पर ज्यादा गहरा प्रभाव पड़ता है जितना बोलने से नहीं पड़ता है। मन में जब कड़वाहट हो तो वाणी में कटाक्ष आ ही जाता है इसलिए सदा अपने भावों को ही मधुर बनाने का प्रयास करना चाहिये।

व्याख्या:- अपने जीवन में अपने मन के भाव बहुत महत्वपूर्ण कार्य करते हैं जैसे मन के भाव होते हैं वैसी ही हमारी वाणी होती है। किसी के प्रति मन में क्रोध या द्वेष रहेगा तो हमारी वाणी भी कटु हो जाती है जो पहले तो हमारे मन को दुखी करती है फिर हमारी कड़वी बात से दूसरों पर नकारात्मक असर पड़ता है। भविष्य में आपसी संबंध भी खराब हो जाते हैं। इसलिए जब क्रोध शांत हो जाय तब मन में कटुता भुलाकर आपसी सुलह का प्रयास करना ही बेहतर होता है। इससे हमारा मन तो शांत होगा ही साथ ही साथ हम मानसिक और वाचिक हिंसा से बचते हैं। जब हमारे मन में विरोध के भाव नहीं रहते हैं फिर शांत मन से किसी के साथ कोई समस्या को सुलझाते हैं तो उसके परिणाम हमेशा अच्छे होते हैं, सकारात्मक होते हैं।

कुंडलिया छंद

सब कुछ देता है बता, ये अपना व्यवहार।
रखना ध्यान सदा यही, बने शब्द उपहार।।
बने शब्द उपहार, वही बदले में पाते।
जो मन के उद्गार, अमर तो वे हो जाते।।
जिसका मन 'मधु' शांत, कहाँ है बाकी अब कुछ।
होते जैसे भाव, कहे बिन बोले सब कुछ।।९।।

अर्थ:- जब हमारा व्यवहार ही हमारे मन के भाव व्यक्त कर देता है तो हर समय हर बात हमें बोलकर बताने की क्या आवश्यकता है? शब्दों को तो उपहार स्वरूप ही काम में लेना चाहिए, क्योंकि जैसी वाणी हम बोलते हैं बदले में वैसी ही सुनने को मिलती है जो कभी भुलायी नहीं जाती है। इसलिए मन में सबके प्रति स्थायी रूप से प्रेम भाव ही रखना चाहिए ताकि मन सदैव शांत रहता है।

व्याख्या:- हमारा व्यवहार ही हमारी अभिव्यक्ति का आइना है। जो बिना बोले ही हमारे मन की बात कह देता है फिर शब्दों को तो तोल-मोल कर ही बोलना चाहिए। हमारे शब्द किसी को मन से दिये हुए ऐसे उपहार हैं जो सामने वाला कभी नहीं भूलता है वे शब्द सदा-सदा के लिए उसके मन-मस्तिष्क में अंकित हो जाते हैं। प्रकृति में इतना संतुलन है कि जो जैसा देता है उसे वही वापिस किसी न किसी रूप में मिलता है। इसलिए सोच समझकर ही शब्दों का उपयोग करना चाहिए। जैन शास्त्रों में वाणी के संयम का बहुत महत्त्व बताया गया है। शास्त्रों में कटुता और व्यंग्य पूर्वक वचन को वाचिक हिंसा कहा गया है, जिसका हमें सदैव परहेज करना चाहिए क्योंकि जब बदले में हमको वही सुनने को मिलती है तो कभी अच्छा नहीं लगता है। इससे मन में क्लेश होने लगता है जो हमारे स्वभाव को खराब करता है।

कुंडलिया छंद

मानव सब है एक से, क्यों आपस में भेद।
सोच अलग सबकी रहे, मन में रहता खेद।।
मन में रहता खेद, दाँव फिर अपने चलते।
छोड़ें मन का क्लेश, तभी मन से मन मिलते।।
चिंतन की 'मधु' बात, हटे बस मन का दानव।
सभी बनेंगे मीत, रहे सब मिलकर मानव।।१०।।

अर्थ:- मनुष्य तो सभी एक से ही होते हैं। सबकी सोच अलग होती है। विचारों की असमानता के कारण वे अलग दिखते हैं। मतभेद को कभी मन का भेद नहीं बनने देना चाहिये। तभी सब आपस में मित्रवत व्यवहार करते हुए हिलमिल कर रह सकते हैं।

व्याख्या:- मनुष्य योनि में जन्मा हर मनुष्य एक समान है। फिर भी अलग-अलग स्वभाव की वजह से हर मनुष्य अपने आप में विशेष होता है इसीलिए दूसरों से अलग होता है। हर प्राणी को अपने कर्मों के हिसाब से अलग तरह की परिस्थितियाँ मिलती है। इन्हीं अलग परिस्थितियों के कारण एक ही बात पर हर व्यक्ति के अलग मत भी होते हैं। भले ही सबके मत अलग हो फिर भी किसी से मन का भेद नहीं होना चाहिए। जब किसी के प्रति विरोध के स्वर उठने लगते हैं तो मन से भेद और बढ़ने लग जाते हैं फिर आपस में कटुता बढ़ती है। ऐसी स्थिति में कई बार मानव अपना मानव धर्म ही भूलने लगता है। मानसिक हिंसा करना उसका स्वभाव बन जाता है। इसलिए हर परिस्थिति के साथ सामंजस्य बनाये रखते हुए दूसरों के प्रति मन की कटुता को

मिटाने की हमें स्वयं को ही जरूरत है। मन को शांत रखने की यह प्राथमिक आवश्यकता है।

अगर हम सबके साथ सरलता के साथ मित्रवत व्यवहार रखेंगे तो अपने लक्ष्य को आसानी से प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि जो व्यक्ति क्रोध, मान इत्यादि कषायों पर विजय प्राप्त करके समस्त प्राणी जगत के प्रति संवेदनशील बन जाता है तथा दूसरों के दुख-दर्द को समझने लगता है वह कभी किसी के साथ अभद्र व्यवहार कर ही नहीं सकता। ऐसे संवेदनशील व्यक्ति के मन में सबके प्रति अनुकंपा का भाव रहता है। सबके प्रति मन में दया और परोपकार के भाव ही रहते हैं। ऐसी सकारात्मकता व्यक्ति को दानव बनने से बचाती है। अपनी जीवन यात्रा को सहज और सरल बनाने में सहयोग करती है।

व्यक्ति को यही सोचना चाहिए कि अंततोगत्वा हम सभी का लक्ष्य एक ही है। सम्यक्त्व प्राप्त कर मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ना। इस रूप से हम सभी एक ही पथ के पथिक हैं। मानवता को स्वीकार करते हुए सबके साथ सहज भाव के साथ सहयोग करते रहना ही मनुष्य धर्म है।

◆◆

कुंडलिया छंद

पूरा सच कोई नहीं, नहीं झूठ भी मान।
द्वंद्वों पर जग है टिका, यही भेद विज्ञान।।
यही भेद विज्ञान, समझ फिर पूरा आये।
प्रकाश का अस्तित्व, बिना तम जान न पाये।।
सोचें 'मधु' यह बात, एक है सदा अधूरा।
बिन दूजे के साथ, नहीं होता है पूरा।।११।।

अर्थः- पूरा जगत द्वंद्व पर टिका हुआ है। द्वंद्व अर्थात् हर वस्तु के दो पहलू होते हैं, दो पहलू विरोधाभास रखते हुए भी कहीं न कहीं एक दूसरे को समझने के लिए पूरक भी हैं। इसी तरह दो बातों में या दो व्यक्तियों की सोच में विरोधाभास भी होता है। इसलिए सांसारिक दृष्टि से कोई भी बात पूर्ण रूप से अपने आप में सत्य प्रतीत नहीं होती है। सभी एक दूसरे की पूरक होती हैं। जैसे बुराई को जानकर ही अच्छाई का अहसास होता है। अंधकार को देखने के बाद ही प्रकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है अतः दोनों एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी समझने की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक हैं। इसी तरह शुद्ध जीव निरपेक्ष सत्य है और संसारबद्ध जीव सापेक्ष सत्य है इसको भी समझना होगा।

व्याख्याः- अगर हम यह कहें कि संसार में सभी अपनी जगह सही है। हमें किसी का विरोध नहीं करना चाहिए तो दो परस्पर विरोधी चीजें कैसे सही होगी और हम उन दोनों को कैसे सही मानें! यह प्रश्न भी मन में कई बार उठता है तब उदाहरण से ऐसे समझना होगा कि जैसे प्रकाश और अंधकार दो

परस्पर विरोधी चीजें है दोनों को अलग-अलग महसूस किये बिना उन दोनों के अस्तित्व को समझना बहुत मुश्किल है। वैसे ही दुख को महसूस किये बिना जीवन में सुख का अहसास भी नहीं किया जा सकता है। इसी तरह आत्मा को जाने बिना जगत का मिथ्यात्व भी हमें समझ नहीं आयेगा। इस तरह अपनी-अपनी जगह दो विरोधाभासी चीजों का अस्तित्व भी सत्य प्रतीत होता है। दोनों ही जानकारी प्राप्त करने के हिसाब से एक दूसरे के पूरक हैं। इसी तरह पूरा जगत द्वंद पर टिका है। यह सांसारिक सत्य है। इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता। कोई वस्तु किसी के लिए हानिकारक है तो किसी के लिए उपयोगी भी हो सकती है। अलग-अलग संदर्भों में हर बात के सही और गलत के मायने बदल जाते हैं। हर इंसान पूर्ण रूप से सही या गलत नहीं हो सकता इसलिए दूसरे व्यक्ति के सही गलत के मापदंडों में नहीं पड़ते हुए हमें सही रूप से हर दृष्टिकोण से किसी भी बात को समझने की जरूरत है।

जैसे हर बूँद में सागर बनने की संभावना होती है वैसे ही सागर बूँद की महत्ता को नकार नहीं सकता। व्यक्ति और समाज का भी इसी तरह संबंध है। अकेला व्यक्ति अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकता है और बिना व्यक्तियों के समाज नहीं बन सकता है। दो परस्पर अलग घनत्व वाली या विपरीत दिखने वाली चीजों में भी आपस में अनन्य संबंध होना ही अनेकांत वाद का सिद्धांत है जो हमें चिंतन के लिए एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण देता है। यही दृष्टिकोण जैन दर्शन का मूलभूत आधार है। हर बात के तथ्य को बिना पूर्वाग्रह के पहले तो सही रूप में समझना जरूरी होता है फिर निःस्वार्थ भाव से अपना एक व्यवहारिक दृष्टिकोण रखना होता है। तभी समझ में आयेगा कि सभी एक दूसरे के पूरक कैसे होते हैं। एक व्यक्ति या घटनाक्रम के गलत या सही होने पर उससे संबंधित हर वस्तु या व्यक्ति प्रभावित होता है। यह भी हम महसूस कर सकते हैं।

◆◆

कुंडलिया छंद

रखना है शालीनता, जीव जगत सम भाव।
चिंतन में गंभीरता, बने सौम्य स्वभाव।।
बने सौम्य स्वभाव, कथन में रहे सरलता।
मन में मधुर विचार, स्वयं आ जाये सहजता।।
सोचें 'मधु' यह बात, धर्म इतना ही अपना।
जागे करुणा भाव, प्रेम प्राणी से रखना।।१२।।

अर्थ:- हमें अपने स्वभाव में सदा शालीनता रखते हुए सबके साथ सौम्य व्यवहार करना चाहिए। सबके प्रति सम भाव रखने पर हमारे विचार मधुर रहेंगे और सहज व्यवहार स्वतः होने लगेगा। सब प्राणी जगत के प्रति करुणा भाव जाग जाय यही अपना सच्चा धर्म है।

व्याख्या:- जब हम सभी एक दूसरे से इस कदर जुड़े हुए हैं तो सबके प्रति मन में सम भाव रखना और सबके साथ मन से सुलझ कर व्यवहार करना हमारा दायित्व बन जाता है और जब हम अपना दायित्व समझकर किसी बात को समझने या कार्य करने लग जाते हैं तो उसके परिणाम सदैव अच्छे होते हैं। उपरोक्त बातों को समझ कर मन से पालन करने पर हमारे व्यक्तित्व में शालीनता और सौम्यता अपने आप ही आने लगती है। संपूर्ण जीव जगत के प्रति समता भाव जागृत होने लगता है। कथन में भी सरलता आने लगती है। मन के सरल विचार व्यक्ति को सहज बनाते हैं। इसके निरंतर प्रयास से जब मन में सबके प्रति प्रेम और करुणा का भाव जागता है तो मन, वचन और काया से किसी के प्रति हिंसा के भाव पैदा भी नहीं होते हैं। 'अहिंसा परमो धर्मः' को समझते हुए संपूर्ण जीव जगत के प्रति कोमल और मधुर भाव रखना ही इंसान का प्रथम कर्त्तव्य है जब इसका पालन करते हुए हमें अच्छे परिणाम मिलने लग जाते हैं तो फिर यह बात सहज रूप से समझ में आने लग जाती है कि मूल धर्म यही है।

कुंडलिया छंद

जाने कषाय छोड़ना, मन के क्षीण विकार।
माने ऐसे मनुज ही, जैन धर्म संस्कार।।
जैन धर्म संस्कार, 'जियो और जीने दो'।
मंगल सबका होय, ज्ञान उन्हें पीने दो।।
द्वंद्वों से 'मधु' दूर, तत्व को ज्ञानी माने।
संयम के वो साथ, धर्म को सच्चा जाने।।१३।।

अर्थ:- जिसके मन के विकार खत्म हो जाते हैं वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझ सकता है जैन धर्म का मुख्य नारा है 'जियो और जीने दो'। सभी व्यक्ति खुद भी सुख से जिये और दूसरों को भी जीने दे तो सबका जीवन सुखमय हो जायेगा। सभी संयम में रहेंगे तो सब के प्रति सम भाव ही उत्पन्न होगी यही सच्चा धर्म है फिर अपने मन के सभी द्वंद्व स्वतः मिटने लग जायेंगे।

व्याख्या:- जब व्यक्ति धीरे-धीरे सम्यक्त्व की ओर बढ़ता है तब उसके मन के विकार कम होने लगते है। व्यक्ति स्वयं अपनी तरह से जीना सीख जाता है और दूसरों को भी उनके हिसाब से जीने देता है। सही मायने में जैन धर्म का मूलभूत सिद्धांत अहिंसा है। इसलिए 'जियो और जीने दो' यह मूल मंत्र जीवन में उतार लेना जरूरी है। जब यह भाव जिसके जीवन में साकार हो जाता है तब मनुष्य में विवेक पूर्वक बातों को समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और व्यक्ति सबके प्रति स्वतः नम्र हो जाता है। सबका कल्याण हो, उसके मन में विनयपूर्वक यह भाव जागने लगता है। इन शुद्ध भावों के साथ निरंतर उसके आत्मा की शुद्धि स्वतः होने लग जाती है।

अध्याय - ५

सत्य

कुंडलिया छंद

चलते सवार झूठ के, संग चले सौ झूठ।।
सत्य अकेला ही चले, जाये कोई रूठ।।
जाये कोई रूठ, करे न सच तो गुलामी।।
पहले हो संताप, अंत में मिले सलामी।।
चिंतन की 'मधु' बात, सभी को सच्चे खलते।
वही झूठ से दूर, संग जो सच के चलते।।१४।।

अर्थ:- एक झूठ के पीछे कई झूठ बोलने पड़ते हैं, क्योंकि वह मन घड़ंत होता है। सत्य एक बार कहा जाता है, क्योंकि वह तथ्य परक होता है। बहुत लोगों के विरोध के बावजूद भी वह अकेला ही दमदार होता है। सच्चा व्यक्ति झूठ से दूर ही रहता है। चाहे कोई उससे नाराज भी हो जाये उसे कितना भी विरोध का सामना करना पड़े, लेकिन अंत में उसे सम्मान की दृष्टि से ही देखा जाता है। ऐसे लोग संतों की श्रेणी में आते हैं।

व्याख्या:- जो बात तथ्यपरक और शाश्वत हो वही सत्य होती है। व्यक्ति अपनी बुद्धि को इस तरह संयमित और अनुशासित करे कि समस्त प्राणी जगत के लिए जो उचित हो ऐसी बात का सहज होकर समर्थन कर सके और उसे ही अपने कर्मों में उतार सके अर्थात् सत्यवादी वही है जो उचित और अनुचित में से उचित का चुनाव कर सके और शाश्वत और नश्वर में से शाश्वत का चुनाव कर सके। यही व्यवहार हमें अपनी शुद्ध आत्मा के करीब ले जाता

है। ऐसी क्रिया या प्रतिक्रिया करने के लिए हमें सदैव दृढ़ प्रतिज्ञ रहना चाहिए।

जो बात जैसी होती है उसे उसी रूप में समझना और वैसी ही प्रस्तुत करना अन्यथा कई ऐसे कर्म हो जाते हैं जिसका कालुष्य आत्मा पर चढ़ता रहता है। झूठ बोलकर मनुष्य सांसारिक भ्रमजाल में फंसता चला जाता है और अपने मूल स्वरूप आत्मा से दूर होता चला जाता है।

अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए सत्य का पालन करना अत्यंत आवश्यक है। जब हम सत्य की राह पर चलते हैं तभी हम सच्चे तत्व ज्ञान को भी सही रूप में समझ कर अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं। जो मनुष्य जितना सत्य के साथ चलकर अपने भावों को शुद्ध कर सकता है उसकी मानसिक तारतम्यता के तार स्वतः शुद्ध आत्मा के साथ जुड़ते चले जाते हैं। उनके भाव, भाषा और कर्म सदैव सकारात्मक होने लग जाते हैं।

◆◆

अध्याय - ६

अस्तेय (अचौर्य)

कुंडलिया छंद

मानें लालच है बुरा, जीवन का अभिशाप।
लोलुपता मन में रहे, मानव करता पाप।।
मानव करता पाप, कभी भी चोरी करके।
सीनाजोरी साथ, दंभ अपने में भरके।।
कहती है 'मधु' बात, पराये हक को जानें।
छोड़ें अपना स्वार्थ, नीति अचौर्य की मानें।।१५।।

अर्थः- लालच अपने जीवन का सबसे बड़ा दुश्मन है। लोभ लालच मनुष्य को कभी तृप्त नहीं होने देते हैं। इसी से मनुष्य दूसरों का हक मारने की कोशिश करता है जब यह भाव मन से छूटेंगे तभी व्यक्ति कभी दूसरे की वस्तु पर अपना हक नहीं समझेगा और नहीं लेने का प्रयत्न करेगा। यही अचौर्य की नीति है।

व्याख्याः- व्यक्ति के मन का लालच उससे बहुत गलत कार्य करवाता है। इसके कारण हमेशा और पाने की लालसा बलवती होती जाती है। ऐसे लोग जब दूसरे व्यक्ति को खुद से ज्यादा सक्षम देखते हैं तब ईर्ष्या करने लगते हैं। फिर उनका लोभ और बढ़ जाता है। वह पाप करने के लिए मन से मजबूर हो जाता है। कभी-कभी तो व्यक्ति बलपूर्वक दूसरों की वस्तुओं को हथिया लेता है। दूसरों का हक मारने पर भी मन संतुष्ट नहीं होता है। इसलिए व्यक्ति को सदैव अपने मन से संतुष्ट रहने की आवश्यकता है फिर भी जरूरत

हो तो अपनी मेहनत करके जीवन में कुछ भी हासिल किया जा सकता है। अचौर्य अर्थात् चोरी नहीं करना जैन दर्शन का तीसरा सिद्धांत है। बिना पूछे किसी दूसरे की चीज को ले लेना, उसका चुपके से उपयोग कर लेना या ऐसा करने का भाव भी मन में लाना चोरी कहलाता है।

हमें दूसरे की वस्तु नहीं लेना बचपन से सिखाया जाता है। माता-पिता बच्चों को बाँट कर जब चीजें देते हैं तो उसके पीछे यही कारण होता है कि अपने हिस्से की चीज पर ही हक रखना चाहिए दूसरों की चीज पर अपना हक नहीं होता है फिर चाहे वो भाई-बहिन भी क्यों ना हो!

जिस तरह किसी और की वस्तु को अपना नहीं मानना चाहिए उसी तरह आत्मा के साथ जुड़े रिश्ते, नाते, मन, शरीर, वाणी पर भी जीव अपना अधिकार नहीं माने तो स्वयं मन में सम्यक भाव का प्रदुर्भाव होने लगेगा। उसे समझ में आने लगेगा कि वह सिर्फ आत्मा है। वह तो अहं के वशीभूत होकर संसार में कर्ता और भोक्ता के रूप में सिर्फ अपने आपको महसूस कर रहा है।

◆◆

अध्याय - ७

अपरिग्रह

कुंडलिया छंद

पाने की अति लालसा, दौड़ रहा इंसान।
जाकर के रुकना कहाँ, नहीं रहा है भान।।
नहीं रहा है भान, खूब संचय कर देता।
देख संसारी जुनून, बोझ मन में भर लेता।।
अपरिग्रही 'मधु' भाव, रोकना परिग्रह जाने।
मिटती मन की भूख, नहीं दौड़े अति पाने।।१६।।

अर्थ:- मनुष्य को हर चीज प्राप्त करने की इतनी लालसा है कि वह उसे पाने के लिए दौड़े जा रहा है। उसे समझ ही नहीं आ रहा है कि उसे अपनी इस अंधी दौड़ को कहाँ जाकर खत्म करना है। कितना संचय करना है इसलिए भगवान महावीर स्वामी ने अपरिग्रह का सिद्धांत बताया। मनुष्य को अपने मन की इच्छाओं पर काबू रखकर ज्यादा संग्रह नहीं करना चाहिए।

व्याख्या:- संसार में आये मनुष्य को अन्न-धन की आवश्यकता तो मात्र जीवन यापन करने के लिए है। हमें अपनी जरूरत से ज्यादा सांसारिक उपक्रमों में नहीं उलझना चाहिए। धीरे-धीरे अपने शुद्ध स्वरूप आत्मा में स्थित हो जाना ही इस मनुष्य जन्म का उद्देश्य है। अपनी जरूरत से ज्यादा संचय पाप की श्रेणी में आता है। इस पर चिंतन करने के लिए महावीर स्वामी ने अपरिग्रह का बहुत सुंदर सिद्धांत बताया है, जिसका अवश्य पालन करना चाहिए। अपरिग्रह के सिद्धांत पर चलना हमारे सुंदर और शांत जीवन के लिए बहुत उपयोगी है। इसका पालन करके ही हम अपना आत्मबल बढ़ाकर त्याग और तप की ओर प्रवृत हो सकते हैं।

कुंडलिया छंद

संचय पुण्यों का करे, पाये सुख फिर जीव।
मिल जाते हैं साथ में, सुख साधन निर्जीव।।
सुख साधन निर्जीव, सुखद फिर सबको लगते।
परिग्रह के ये भाव, मनुज में लालच भरते।।
चिंतन की 'मधु' बात, करे जो लोभ धनंजय।
पापबंध का बोझ, हुआ जब ज्यादा संचय।।१७।।

अर्थः- हालांकि हमारे पुण्यों का संचय सुख सुविधा के साधन जुटाने में हमारी मदद करते हैं और सुख सुविधाओं के साथ जीवन जीना सबको अच्छा लगता है। व्यक्ति इस सुख को ज्यादा से ज्यादा पाने में इतना खो जाता है कि वह लोभी प्रवृत्ति का बन जाता है। व्यक्ति ज्यादा धनवान बनकर क्या कर लेगा? आखिर तो उसे सब यहीं छोड़कर जाना है। हाँ धन प्राप्त करने के लिए जो पाप बंध कर रहा है वह जरूर उसके साथ जाने वाला है। इसलिए इस बात से सतर्क हो जाना चाहिए।

व्याख्याः- मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं का इतना आदि हो चुका है कि प्राप्य वस्तुओं को संजोने में और नया पाने की लालसा में ऊलझता ही चला जाता है। सामाजिक रूप से व्यक्ति भले ही धनवान कहलाये, लेकिन इतना संचय करके बाहरी दुनिया की नश्वरता में इस कदर भटक जाता है कि अपने मूल स्वरूप आत्मा से दूर होता चला जाता है। ज्यादा सुविधाएँ जुटाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। ज्यादा धन कमाने के लिए दूसरों का हक मारना व्यक्ति की आदत बन जाती है जो पाप-बंध का कारण बनती है। प्रकृति ने सबके हिस्से का बराबर दिया है फिर ऐसा करके हम एक तो अपनी आत्मा को दूषित करते जाते हैं और दूसरा प्रकृति का संतुलन भी बिगाड़ते चले जाते हैं।

अध्याय - ८

ब्रह्मचर्य

कुंडलिया छंद

चरित्रवान मनुष्य जो, शीलव्रत स्वीकार।
वश में पाँचों इंद्रियाँ, पावन हो आचार।।
पावन हो आचार, ब्रह्मचारी कहलाये।
ज्ञान ध्यान में लीन, आत्मरमण कर पाये।।
सोचें 'मधु' यह रोज, रहें भावों से पवित्र।
ऐसे ज्ञानी जीव, शुद्ध रख लेते चरित्र।।१८।।

अर्थः- ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले मनुष्य सदाचारी और शीलवान होते हैं। उनका व्यवहार पवित्र होता है। ऐसे मनुष्य अपने पाँचों इंद्रियों पर अंकुश लगाना जानते हैं। इसलिए अपने जीवन को नियम में ढाल लेते हैं। इस व्रत का पालन करने वाले जीव सदैव पवित्र होते हैं।

व्याख्याः- ब्रह्मचर्य जैनधर्म का पाँचवा मूलभूत सिद्धांत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म में स्थित हो जाना अर्थात् शुद्ध स्वरूप में स्थित होने को आचरण में लाना। ऐसे व्यक्ति अपने आप ही इस नश्वर सांसारिकता से ऊपर उठकर संयम रखना सीख जाते हैं। वे अपनी पाँचों इंद्रियों को वश में रखकर जीना सीख जाते हैं। उपरोक्त चारों सिद्धांतों का पालन दृढ़ता पूर्वक करते हैं इसलिए मन पर काबू करना सीख जाते हैं। पूरे मनोयोग से ध्यान करते हुए आत्मरमण में लीन रहने लगते हैं। ऐसे ज्ञानियों के चरित्र सदा पवित्र रहते हैं। निरंतर शुद्ध कर्मों के प्रति सजग रहने वाले ज्ञानी ही अपने चरित्र को इतना ऊँचा उठा सकते हैं।

कुंडलिया छंद

रखना सभी सहृदयता, दिल में कोमल भाव।
हर प्राणी से प्रेम हो, वैसा बने स्वभाव।।
वैसा बने स्वभाव, मधुर वाणी ही बोले।
विनयी हो आचार, नेह को मन में घोले।।
अच्छा है 'मधु' नित्य, शुद्ध भावों को चखना।
हो विवेक फिर साथ, निडरता मन से रखना।।१९।।

अर्थ:- जब व्यक्ति के मन में सबके प्रति कोमल भाव जाग जाते हैं तो वह प्रत्येक प्राणी के प्रति प्रेमभाव रखकर मधुर व्यवहार करने लगता है। अपनी इच्छाओं को सीमित कर जब व्यक्ति विनय पूर्वक आचरण करता है तो उसका अपना स्वयं ही आत्मविश्वास बढ़ने लगता है। जब व्यक्ति अपने आप में विश्वास रखने लगता है तो धीरे-धीरे वह आत्म निर्भर बनने लगता है। फिर वह बिना अपेक्षा रखे दूसरों से रिश्ते रखता है जिससे आपसी रिश्ते भी मधुर होने लगते हैं। यहीं से व्यक्ति का सब तरह का डर खत्म होने लगता है। ऐसे निडर व्यक्ति ही अपने कषायों पर नियंत्रण रखकर आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं।

व्याख्या:- जैन धर्म के पाँचों मूलभूत सिद्धांतों को समझते हुए जब व्यक्ति विनयपूर्वक इन सिद्धांतों का पालन करने लग जाये तो समस्त जीव जगत के प्रति मन में दया और करुणा का भाव स्वतः जागृत हो जाता है। अहिंसा भाव जागृत हो जाने से व्यक्ति के मन में स्थायी रूप से समस्त प्राणी जगत के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होने लगता है। वाणी में मधुरता आने लगती है।

लालच कम होने से मन भी निडर बनने लगता है। सत्यता के साथ चलने पर मन के भय दूर होने लगते हैं। फिर वैसा ही स्वभाव बन जाता है। जब सबके प्रति कोमल भाव रखते हुए व्यक्ति अपनी आत्मा को और शुद्ध करने का प्रयत्न करने लगता है तब वह निर्जरा के मार्ग की ओर स्वतः निकल पड़ता है। यह त्यागमयी जीवन गृहस्थ में रहते हुए भी संभव है इसके लिए अपने स्वभाव को और उत्कृष्ट बनाने की जरूरत है नहीं तो साधु जीवन में रहने वाले भी भोग की प्रवृत्तियाँ नहीं छोड़ पाते हैं। ऐसे साधु ज्यादा सुविधाएं एकत्र कर गृहस्थ के समान आचरण करने लग जाते हैं। कर्मों की निर्जरा कैसे की जाय और सम्यक्त्व कैसे प्राप्त किया जाय इसके लिए जैन दर्शन में नौ तत्व बताये गये हैं अब उनको समझना होगा जो संपूर्ण जगत में व्याप्त हैं।

◆◆

अध्याय - ९

त्रिरत्न

कुंडलिया छंद

रत्न त्रय की साधना, मोक्ष मार्ग प्रशस्त।
मूल यही आराधना, मनु हो जाए व्यस्त।।
मनु हो जाए व्यस्त, सुधारे चिंतन अपना।
हो सम्यक्त्व बोध, भाव समता के जपना।।
समत्व 'मधु' साकार, सुधर जाती चिंतन लय।
दर्शन ज्ञान चरित्र, समझ लेना रत्न त्रय।।२०।।

अर्थ:- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों तत्व इतने उच्च श्रेणी के माने जाते हैं कि जैन दर्शन में इन्हें त्रिरत्न कहा जाता है। अगर मनुष्य इन तीनों को समझ ले तो वह मन के सभी विकार मिटाकर सकारात्मक सोच के साथ जीवन जीना सीख जाता है और भविष्य में अपने लिये मोक्ष का मार्ग भी प्रशस्त कर सकता है।

व्याख्या:- जब कोई मनुष्य अपने आप में सकारात्मक परिवर्तन लाना चाहता है तब उसे मूलरूप से तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहला महावीर स्वामी द्वारा बताये गये तत्व ज्ञान को सही और सच्चे स्वरूप में समझ कर उस पर चलने का प्रबल मन बनाना, दूसरा उस सच्चे ज्ञान को प्राप्त करना, तीसरा बारंबार प्रयास करके उस ज्ञान को अपने व्यवहार में उतारना, क्योंकि

जब हमारा ज्ञान अपने व्यवहार में उतर जाय तभी ज्ञान प्राप्त करना सार्थक होता है। अत: जैन धर्म के अनुसार: -

१) **सम्यग्दर्शन:-** तत्वज्ञान के सच्चे स्वरूप में श्रद्धा रखना।

२) **सम्यग्ज्ञान:-** तत्वज्ञान को शुद्ध रूप में जानना।

३) **सम्यक्चारित्र:-** तत्वज्ञान को शुद्ध रूप से व्यवहार में उतारना।

यही त्रिरत्न मोक्ष मार्ग के साधन हैं। जिस तरह सांसारिक रूप से रत्नों की प्राप्ति के बाद मनुष्य प्रसन्न हो जाता है उसी तरह इन तीन रत्नों को प्राप्त कर व्यक्ति जैन धर्म का अनुसरण करने के लिए खुशी से प्रवृत्त हो जाता है। अपने मन के विकारों को छोड़कर मनुष्य अपने भावों को शुद्ध करने लग जाता है। समतामयी जीवन जीने का प्रयत्न करते हुए सम्यक्त्व (भावों की शुद्धि) की ओर बढ़ने लग जाता है। उसे विश्वास हो जाता है कि अगर वह सम्यक्त्व को जीवन में उतार ले तो अपनी आत्मा को शुद्ध करने के साथ-साथ ही इस सांसारिक जीवन को भी सुख से जीना सीख सकता है।

◆◆

कुंडलिया छंद

पकड़े इच्छुक जीव ही, धर्म ज्ञान की डोर।
नौ द्रव्यों के ज्ञान से, सम्यक्त्व की ओर।।
सम्यक्त्व की ओर, धर्म अपना कर देता।
मोक्ष मार्ग प्रशस्त, निश्चय नयी कर लेता।।
चिंतन की 'मधु' बात, जीव अज्ञानी अकड़े।
ज्ञानी समझे मोक्ष, मार्ग को फिर वह पकड़े।।२१।।

अर्थः- जो व्यक्तिधर्म की राह पर चलने का मन बना लेता है वह पहले तो समता भाव से जीवन जीने का प्रयत्न करने लगता है फिर वह किसी बात पर तर्क-वितर्क में नहीं पड़ता है। इसके बाद तत्वज्ञान को समझते हुए विनय पूर्वक जीवन जीने लग जाता है। आगे स्वतः मोक्ष मार्ग की ओर कदम बढ़ता ही चला जाता है।

व्याख्याः- जब व्यक्ति सत्य, अहिंसा, अस्तेय इत्यादि पाँच सिद्धांतों को समझकर पालन करने लग जाता है तब उसके भाव अशुभता से शुभता की ओर बढ़ने लगते हैं। जिसका मन शुभ भावों से ओतप्रोत होने लगता है उसे धर्म की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने की इच्छा होने लगती है। वह अपने गुरुओं और धर्म ग्रंथों द्वारा सम्यक्त्व का मर्म जानने का प्रयत्न करने लगता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव, अजीव, कर्म बंध इत्यादि तत्वों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने से ही शांति के मार्ग की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है इसीलिए इसे निश्चय नय कहा गया है। इसमें सही रूप में ज्ञान प्राप्त करने का निश्चय करना होता है। सही ज्ञान प्राप्त करके ही अपने भावों में परिवर्तन किया

जा सकता है। जिसकी सभी को आज आवश्यकता है, लेकिन आजकल मनुष्य अपने भावों को नहीं बदलते हुए धर्म के क्रियाकलापों का अनुसरण करने को ही धर्म मान बैठा है और उसी को अंतिम लक्ष्य समझने लगा है। साधारण मनुष्यों को यह मार्ग सरल लगता है,लेकिन यह व्यवहार नय कहलाता है जो व्यक्ति को सिर्फ धर्म मार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिए मन बनाने का साधन मात्र है। उसे ही अंतिम लक्ष्य नहीं मान सकते इसीलिए व्यक्ति अपने लक्ष्य से भटक गया है। आजकल सभी पूजापाठ,मंदिर,तप,दान को ही धर्म मान रहे हैं। इसका पालन करके साधारण व्यक्ति समाज में अपनी पहचान बनाने का प्रयत्न करते हैं। मंदिर जाना,मूर्ति पूजा करना, तपस्या करना और दान करना अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकता ये पुण्य कमाने के साधन मात्र हो सकते हैं,लेकिन अंतिम लक्ष्य अपने भावों की शुद्धि करना ही हो सकता है जिससे अभी मन को शांति और भविष्य में जन्म मरण के चक्रव्यूह से मुक्ति मिल सके। यह चिंतन करने की क्षमता सिर्फ़ मनुष्य में ही निहित है।

मनुष्य जब इस सांसारिक आपाधापी को छोड़कर अपने मन के अंदर झाँकने का प्रयत्न करेगा और स्वयं थोड़ी देर शांत होकर बैठेगा तभी उसे समझ में आयेगा कि वह स्वयं आखिर चाहता क्या है ? जब व्यक्ति अपने मन को आत्मकेंद्रित कर पाता है तब उसके अंदर एक अद्भुत शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यही शक्ति मन के अवलोकन की सूक्ष्मता को कई गुणा बढ़ा देती है यही ध्यान कहलाता है। जिससे मन को परम शांति का अनुभव होता है। इन दिनों पूरे विश्व में ध्यान का महत्व बहुत बढ़ गया है। सही रूप में ध्यान करने के लिए तत्व ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है जिसका लगातार अनुसरण करते रहने से मनुष्य के भावों के शुभ होने की प्रक्रिया शुरू हो सकती है। फिर मनुष्य ज्ञान का गूढ़ अर्थ समझ कर अपने मन को और समझने का प्रयत्न करने लगता है। इन दृढ़ निश्चयी मनुष्यों के लिए निश्चय नय का ज्ञान बताया गया है जो मनुष्य पूर्ण रूप से धर्म के मूल तत्वों का विचार करते हुए महाव्रतों को धारण कर मुक्ति मार्ग की ओर अग्रसर हो जाते हैं। वे अपने मन के भाव पूर्ण रूप से शुद्ध करके आत्मज्ञानी बन जाते हैं। सम्यग्दर्शन(धर्म का सही स्वरूप) को समझना प्रत्येक मनुष्य का उद्देश्य होना चाहिए।

◆◆

अध्याय - ९

सम्यग्दर्शन

कुंडलिया छंद

दर्शन समझें जैन का, बढ़े सम्यक्त्व ज्ञान।
मिलता मोक्ष मार्ग सहज, करते रहना ध्यान।।
करते रहना ध्यान, आत्मा शुद्ध है जाने।
संसारी जो जीव, इसे कैसे भी माने।।
चिंतन हो 'मधु' रोज, करो निश्चय से अर्पन।
ज्ञात नय व्यवहार, समझ लेते फिर दर्शन ।।२२।।

अर्थः- जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन को समझने लगता है और उसमें विश्वास करने लगता है तब उसके लिए मोक्ष का मार्ग जानना आसान हो जाता है। जब व्यक्ति मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ने का निश्चय कर लेता है तब वह निश्चय ही सम्यग्ज्ञान को जानने की चेष्टा करता है अन्यथा संसार के भँवर जाल में उलझा व्यक्ति इसे नहीं समझ सकता है। वह दूसरों की देखादेखी व्यवहार धर्म (व्यवहार नय) जैसे मंदिर दर्शन, पूजन को ही अपना अंतिम उद्देश्य समझ लेता है। यह उपक्रम हमारे लिये केवल धर्म की ओर मन बनाने का साधन है। साधारण व्यक्तिको अशुभता से शुभता की ओर ले जाने के लिये आवश्यक भी है, परंतु शुभता से शुद्धता की ओर बढ़ने के लिए सम्यग्ज्ञान जरूरी है यही निश्चय धर्म (निश्चय नय)कहलाता है।

व्याख्याः- निश्चय नय को समझने के लिए सांसारिक प्राणियों को श्रुतज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। तभी सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना संभव है,

क्योंकि तत्वार्थ सूत्र, मोक्षमार्ग प्रकाशक, समयसार इत्यादि जैन शास्त्रों के अनुसार जिनका यथार्थ ज्ञान गुरुजनों द्वारा सुनकर या स्वयं पढ़कर ही ज्ञात हो सकता है। इसी प्रकिया को श्रुत ज्ञान कहते हैं।

तत्वज्ञान का जो स्वरूप है उसमें उसी प्रकार श्रद्धा रखना समग्दर्शन है जिसका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जगत में दो तत्व मुख्य हैं जीव और अजीव। उनके विकारी पर्याय आस्रव और बंध है। इन आस्रवों के कारण से शुभ-अशुभ भाव, वचन और कर्म से बंध जाने वाले कर्मबंध ही जीव और अजीव में विकार उत्पन्न करते हैं। इनसे छूटने का क्रम और उपाय संवर, निर्जरा और मोक्ष है। संवर अर्थात् इन्हें पहले रोकना और निर्जरा अर्थात आत्मा से बंधे हुए कर्म बंधों से छुटकारा पाना ही मोक्ष मार्ग का उपाय है। मोक्ष के पूर्व पुण्यों का स्वतः क्षय हो जाता है। इन सभी बातों को विस्तार से समझना होगा इसके लिए जैन शास्त्रों में नौ द्रव्य और सात तत्व बताये गये हैं। मोक्ष के पूर्व पुण्यों का स्वतः क्षय हो जाता है। इन सभी बातों को विस्तार से समझना होगा। इसके लिए नौ द्रव्य और सात तत्व बताये गयेजिनमें मूलतः सात तत्वों का समावेश हैं।

◆◆

अध्याय - ११

सम्यग्ज्ञान

कुंडलिया छंद

ज्ञानी बनते हैं वही, जो करे पुरूषार्थ।
महावीर वो नाम है, खूब किया परमार्थ।।
खूब किया परमार्थ, ज्ञाप पाने की ठानी।
मोक्ष मार्ग की राह, त्याग की बातें जानी।।
सोचें 'मधु' यह बात, बना कब ऐसा ध्यानी।
जाने उनका मार्ग, भाव रखते जो ज्ञानी।।२३।।

अर्थः- ज्ञानी बनने के लिए बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है। सच्चा ज्ञानी सदैव अपने जीवन में परमार्थ का मार्ग चुनता है। वह अपने इंद्रियों को नियंत्रण में रखना सीख जाता है। तभी वह केवल ज्ञान प्राप्त करके संपूर्ण कर्म-बंधों से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी जी ने इस मार्ग को चुनकर स्वयं मोक्ष प्राप्त किया।

व्याख्याः- श्री महावीर स्वामी ने स्वयं इस मार्ग को अपने पुरुषार्थ से खोजा और मोक्ष भी प्राप्त किया। वे भी साधारण मनुष्य थे, परंतु उनकी आत्म-शक्ति प्रबल थी। वर्षों की तपस्या के बाद जब उन्हें अपनी आत्मशुद्धि का मार्ग मिल गया तो उन्होंने अपने अनुभव साझा करने के लिए समस्त प्राणी जगत को उपदेश देकर जो ज्ञान दिया वही आज जैनदर्शन के रूप में हमें उपलब्ध हुआ है। उनका कहना था कि जो अपनी पाँचों इंद्रियों पर सही रूप से विजय प्राप्त कर ले वही जिनेंद्रिय बन जाते हैं। उनमें स्वतः समता भाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। इससे पहले भी इस अवसर्पिणी काल में कई पुण्यात्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया है, जिनमें से २३ तीर्थंकर और हुए हैं। इसकी व्याख्या जैन शास्त्रों में उपलब्ध है।

कुंडलिया छंद

इंद्रिय ज्ञान है श्रुत मति, मनपर्यय मन ज्ञात।
सीमित अवधि ज्ञान समय, केवल है सौगात।।
केवल है सौगात, मिटे जन्मों का फेरा।
पाँच तरह के ज्ञान, हटे कर्मों का ड़ेरा।।
जैन ग्रंथ 'मधु सार', विषय तो है चिंतनीय।
पंचेन्द्रिय को ज्ञान, मनुज की सक्षम इंद्रिय।।२४।।

अर्थः- संसार में जीव मुख्यतया दो प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। एक अपनी इंद्रियों के द्वारा देख, पढ़ या सुन करके और दूसरा अपनी ध्यान साधना कर अपनी आत्मा से स्वयं साक्षात्कार कर के। इंद्रियों से श्रुतज्ञान और मतिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और साधना से अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। केवल ज्ञान से आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार हो सकता है। यह मनुष्य जन्म में ही संभव है। यह 'मधु सार' पुस्तक आपके चिंतन के कई नये आयाम खोल देगी, जिसे पढ़कर एक बार तो जैन दर्शन पर चिंतन करने की आवश्यकता जरूर महसूस होगी।

व्याख्याः- ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता हैः-

(१) परोक्ष ज्ञानः- जो मन और इंद्रियों की सहायता से प्राप्त होता है।

(२) प्रत्यक्ष ज्ञानः- जो इंद्रियाँ और मन के बिना सीधा आत्म-ज्ञान होता है।

(१) परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है :– १) मति ज्ञान और २) श्रुत ज्ञान।

१) मति ज्ञानः- मन और इंद्रियों की सहायता से जो देखकर, छूकर इंद्रियों द्वारा जान लिया जाता है वह मतिज्ञान है ।

२) श्रुत ज्ञानः - जो पूर्व लिखित शास्त्रों और श्रुतियों से अपनी इंद्रियों द्वारा सुनकर-पढ़कर विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया जाता है जैसे आत्मा के गुण पर्याय का बोध करना और किसी तरह की ऐसी जानकारी जिसे प्रत्यक्ष स्वयं ने नहीं देखा है, लेकिन दूसरों के द्वारा सुनकर और पुस्तकों से ज्ञान अर्जित कर जानना वह श्रुत ज्ञान है।

(२) प्रत्यक्ष ज्ञानः - जो इंद्रियाँ और मन के बिना सीधा आत्म ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान आत्म ज्ञान की शक्ति से प्राप्त होता है। यह तीन प्रकार का होता है - १) अवधि ज्ञान २) मनःपर्यय और ३) केवल ज्ञान।

१) अवधि ज्ञानः - एक निश्चित क्षैत्र, काल मर्यादा के पुद्गलों को पूर्व घटित घटना के आधार पर आत्म शक्ति से स्वतः जान लेना अवधि ज्ञान है।
यह दो प्रकार का होता है। १) भव प्रत्यय २) गुण प्रत्यय।

१) भाव प्रत्यय:– देव और नरक गति में जाने वाले जीवों को 'भवप्रत्यय अवधि ज्ञान' सहज रूप से हो जाता है। मनुष्य गति में तीर्थंकरों को जन्मजात अवधि ज्ञान होता है।

२) गुण प्रत्यय:– क्षयोपशम की उपलब्धि से (अर्थात् अपनी विशुद्धि से जब कुछ कर्मों का क्षय हो जाय और कुछ शांत हो जाय) जीवों में जो विशेष लब्धि प्राप्त होती है, उससे केवल कुछ मनुष्यों और तिर्यंचों को 'गुणप्रत्यय अवधि' ज्ञान होता है।

मति श्रुति और अवधि ये तीनों ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ होते हैं तो ज्ञान है, किंतु मिथ्यात्व के साथ हैं तो ये भी अज्ञान हैं। अतः ये तीनों क्रमशः १) मति अज्ञान २) श्रुत अज्ञान और ३) विभंग ज्ञान कहलाते हैं। यह ज्ञान मनुष्य जन्म में संयमी साधक मुनियों को ही होता है।

२) मनःपर्यय ज्ञानः - प्रत्यक्ष ज्ञान का दूसरा प्रकार मनःपर्यय ज्ञान है।

किसी दूसरे के मन में किसी भी विषय के प्रति भूत, वर्तमान और भविष्य में क्या सोच होगी या रही होगी इस तरह दूसरों के मन को पढ़ने की क्षमता स्वतः आ जाना मनः पर्यय ज्ञान है। यह ज्ञान मनुष्यों को ही होता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने संयम की विशुद्धि आवश्यक है। जो मनुष्य जितना शुद्ध आत्म शक्ति से ओतप्रोत होगा उसे उतना यह शुद्ध ज्ञान स्वतः होने लग जाता है। ये ऋजुमति और विपुलमति दो तरह का होता है। 'ऋजुमतिु' कुछ समय के लिए ज्ञान प्राप्त होकर धूमिल हो जाता है और 'विपुलमति' स्थायी और विशुद्ध ज्ञान होता है जो केवल ज्ञान की प्राप्ति पर्यंत रहता है।

३) केवल ज्ञानः– प्रत्यक्ष ज्ञान का तीसरा और अंतिम प्रकार है केवल ज्ञान जो देश, काल और सीमा से परे होता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के बाद ज्ञानी को तीनों लोकों का त्रैकालिक मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान कषायों का संपूर्ण क्षय होने पर बारहवें गुण स्थान के अंतिम समय में होता है। केवल ज्ञान प्राप्त कर आत्मा का साक्षात्कार करना ही मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य है। केवल ज्ञान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अंतराय इन चारों घाती कर्मों के पूर्ण नाश हो जाने पर होता है। यह अनंत ज्ञान है। केवल ज्ञान प्रकट होने पर केवल ज्ञान, केवल दर्शन व अनंत वीर्य प्रकट होते हैं।

◆◆

कुंडलिया छंद

आत्मा बंधन में बंधी, कर्मों से अनजान।
जैन धर्म के तत्व जो, लो इनका भी ज्ञान।।
लो इनका भी ज्ञान, जीव अजीव में बंधन।
कर्मों से बंध जाय, आस्रव कराये क्रंदन।।
पाप पुण्य 'मधु' जान, करे संवर जीवात्मा।
कर्म निर्जरा धर्म, मोक्ष गामी है आत्मा।।२५।।

अर्थ:- कर्मबंध के कारणों से अनजान आत्मा सदियों से जीव के रूप में संसार के गोते लगा रही है। निश्चय धर्म को जानने के लिए सात तत्वों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों को समझकर हर व्यक्तिनिश्चय धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन की ओर प्रवृत हो सकता है फिर मोक्षमार्ग को समझ सकता है।

व्याख्या:- सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले सात तत्वों को समझना जरूरी है।

१) **जीव:-** जीव दो प्रकार के होते हैं:- १) मुक्त जीव और २) संसारी जीव। द्रव्य रूप से जो शुद्ध आत्मा है वो मुक्त जीव है और पर्याय रूप से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जो जीव होते हैं वे संसारी जीव हैं।

२) **अजीव:-** निर्जीव वस्तु अजीव है। ये जगत में पाँच द्रव्यों के रूप में विद्यमान है। आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म।

३) **आस्रव:-** कर्मों के आगमन का द्वार आस्रव है।

आस्रव दो प्रकार के होते हैं।

१) पुण्यास्रव:- जीवन में पुण्य आने के द्वार।

२) पापास्रव:- जीवन में पाप आने के द्वार।

४) कर्मबंध:- बंध दो प्रकार के होते हैं।

१) पुण्यबंध:-जीव द्वारा किये गये शुभ कर्मों का बंध जो जीव को उच्च गौत्र-गति प्राप्त करवा कर साता वेदनीय (पुण्य) का कारण बनता है। संसार की सुख-सुविधाएं दिलवाने में सहायक होता है।

२) पापबंध:- जीव द्वारा किये गये अशुभ कर्मों का बंध जो जीव को नीच गति-गौत्र में जन्म दिलवाकर असाता वेदनीय (पाप) का कारण बनता है जिसके कारण जीव को अनंत दुखों का सामना करना पड़ता है।

५) संवर:- भविष्य में आने वाले कर्मों के आस्रवों (कारणों) को रोकना संवर कहलाता है।

६) निर्जरा:- पूर्व संचित कर्मों का क्षय करके आत्मा को पूर्ण रूप से शुद्ध करना निर्जरा है।

७) मोक्ष:- मोक्ष आत्मा का अंतिम लक्ष्य है। कर्म बंधन से छूट कर संसार के आवागमन से मुक्ति प्राप्त करना मोक्ष है।

◆◆

कुंडलिया छंद

जानें जीव अजीव को, त्याज्य आस्रव बंध।
मोक्ष निर्जरा हो ग्रहण, करे संवर प्रबंध।।
करे संवर प्रबंध, कर्म आस्रव फिर घटते।
मूल रूप पहचान, बोझ आत्मा से हटते।।
पंचेन्द्रिय 'मधु' जीव, असैनी सैनी मानें।
सम्यक ज्ञान प्रबुद्ध, जीव सैनी है जानें।।२६।।

अर्थः- जीव-अजीव तत्व जानने योग्य है। आश्रव, बंध, पाप और पुण्य छोड़ने योग्य हैं। संवर और निर्जरा मोक्ष जाने के प्रबंध हैं। इन सबको समझने और इस राह पर चलने के लिए केवल मनुष्य ही सक्षम है, क्योंकि वह सैनी जाति का पंचेन्द्रिय जीव है जिसके पास मन है।

व्याख्याः- उपरोक्त सात तत्वों के भेद का सही और सच्चा ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इसके सही प्रारूप में सच्चे दिल से श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है और सत्य, अहिंसा इत्यादि पाँच सिद्धातों को मन, वचन और काया से अंगीकार करके उपरोक्त सात तत्वों को सम्यक रूप से जानकर, चरित्र में ढालकर मोक्षमार्ग की यात्रा पर निकल जाना सम्यक चरित्र है।

प्रबुद्ध प्राणी यह समझ लें कि जीव और अजीव तत्व जानने योग्य है। बंध, पुण्य, पाप और आश्रव छोड़ने योग्य है। संवर, निर्जरा और मोक्ष ग्रहण करने योग्य है। जीव और अजीव ये दोनों मूल तत्व हैं। बाकी के पाँच तत्व इनके पर्याय हैं अर्थात् इन दो तत्वों के कारण ही बाकी के पाँच तत्वों का अस्तित्व होता है।

मनुष्य सैनी जीव है, क्योंकि इसके हृदय में कमल पुष्प के समान ८ पंखुड़ियों वाला एक द्रव्य मन स्थित है। दूसरा भाव मन है जो आत्मा की शक्ति है। इस भाव मन में ही अच्छे और बुरे भाव बनते बिगड़ते रहते हैं। कर्मों की निर्जरा भावों से होती है। अतः मनुष्य जन्म में ही जीव अपने कषायों की निर्जरा कर मोक्ष जाने का अधिकारी हो सकता है। उसके लिए सर्वप्रथम उसे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार मुख्य कषाय भावों पर काबू पाने का प्रयत्न करना होगा। दूसरों के प्रति द्वेष अर्थात् वैर रखने से क्रोध और मान बढ़ते हैं। राग अर्थात् चाहने का भाव रखने से माया और लोभ बढ़ते हैं। यही राग-द्वेष कर्मबंधन के मूल कारण हैं। कर्मबंध के कारण ही आत्मा फिर जीव बन कर इस नश्वर जगत में बारंबार जन्म-मरण के खेल में फँसी रहती है।

◆◆

अध्याय - १२

जीव (आत्मा)

कुंडलिया छंद

नश्वर जग पल पल हमें, देता है आभास।
मोक्ष अंतिम पाथ बने, करते रहें प्रयास।।
करते रहें प्रयास, स्वयं फिर चिंतन करके।
रहे क्षमा का भाव, सरल अपना मन रखके।।
कहती है 'मधु' बात, करें इसमें तत्परता।
है आत्मा ही मूल, ज्ञात जीवन नश्वरता।।२७।।

अर्थ:- जीवन के कई घटनाक्रम हमें शरीर की नश्वरता का अहसास दिलवाते हैं। तभी हमें हमारे शरीर में किसी और पृथक शक्ति के होने का आभास होता है जो एक शक्ति पुंज के रूप में हमारे साथ मृत्यु तक हमें चलायमान रखती है। मृत्यु के समय वह शरीर से मुक्त हो जाती है। इस पर हमें चिंतन करने की आवश्यकता है। अपने मन के कषाय मंद करके जब सरलता से सबके प्रति सम भाव रखेंगे तब हम शांत मन से आत्म चिंतन की ओर प्रवृत्त हो सकेंगे।

व्याख्या:- जब हम इस संसार में वृद्ध के शरीर को शनैः-शनैः क्षीण होते हुए देखते हैं, मृत्यु जैसी भयावह घटनाएं घटित होते हुए देखते हैं तब शरीर की नश्वरता का अहसास स्वतः होने लगता है। इससे हमें यह समझ में आता है कि कोई तो पृथक शक्ति होती है जो हमारे शरीर को सुचारू रूप से चलाते हुए इसमें एक ऊर्जा का संचार करती है। हमारी इंन्द्रियों को विषयों के साथ तादात्म्य करवाती है। हमें रूप, रस, गंध से अवगत करवाती है। यह प्रश्न

जब हमारे दिमाग में तेजी से कौंधता है तब उस अज्ञात शक्ति को जानने की हमारी उत्सुकता बढ़ जाती है। हाँ उसी अज्ञात शक्ति का नाम आत्मा है इसका अस्तित्व शरीर से अलग है जो समय आने पर शरीर से मुक्त हो जाती है। जिसे सांसारिक जीवन में हम मृत्यु कहते हैं।

आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य है, क्योंकि वह द्रव्य रूप में सदैव अस्तित्व में रहती है, परंतु पर्याय दृष्टि से अनित्य है क्योंकि आत्मा जगत में शरीर, इंद्रियाँ आदि पर्याप्ति को लेकर आती है और मृत्यु के समय इन्हें छोड़ देती है। सर्वप्रथम हमें यह समझना होगा कि संसार से मुक्ति आत्मा का अंतिम लक्ष्य है और आत्मा की शुद्धि इस मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। हमें क्यों नहीं अपना मन सरल रखकर अपने पूर्व संचित कर्मों के बंधनों से मुक्त होने का प्रयास अभी से शुरू कर देना चाहिए। जैसे राग-द्वेष आदि कर्म बंध के कारण हैं वैसे ही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र कर्म बंध से छूटकर मोक्ष जाने के उपाय भी है। इसलिए अपनी गलतियों के प्रति पश्चाताप का भाव और सबके प्रति क्षमा का भाव रखकर अभी से अपनी आत्मा को शुद्ध करने की ओर प्रवृत्त हो जाना चाहिए। इस तरह हम मोक्षपथ की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

आत्मा से संबंधित ५ बातें हैं। इनमें पूर्ण श्रद्धा होना ही सच्चे सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव है। १) आत्मा का अस्तित्व है २) आत्मा ही कर्ता है ३) आत्मा ही अपने कर्मों का भोक्ता है ४) आत्मा का ही मोक्ष होता है और ५) मोक्ष के उपाय भी हैं। संपूर्ण कर्मों का क्षय करके आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में स्थापित करना अंतिम लक्ष्य है।

◆◆

कुंडलिया छंद

जिसमें पूरी चेतना, सबको ये स्वीकार।
गुण ग्राहक बस है यही, नहीं कोई विकार।।
नहीं कोई विकार, चैतन्य उसको जानें।
ऊर्ध्व गामी स्वभाव, सर्व ज्ञाता है मानें।।
चिंतन की 'मधु' बात, चलन का बल तो इसमें।
आत्मा इसका नाम, नहीं गणना है जिसमें।।२८।।

अर्थः- आत्मा चेतन जीव है। यह ऊपर की ओर उठने वाली एक ऐसी अदृश्य शक्ति है जो समस्त प्राणियों में व्याप्त है। यह प्राणियों के हलचल करने में सहयोगी है। यह एकदम शुद्ध और निराकार है। यह अनंत गुणों की खान है।

व्याख्याः- आत्मा शुद्ध, अनादि, निराकार, निरंजन एक ऐसा तत्त्व है जो तीनों लोकों में चैतन्य रूप से विद्यमान है। यह अदृश्य है, अगणनीय है जिसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है। यह ऊर्ध्व गामी स्वभाव का सर्वथा मुक्त अपने आप में स्थित रहने वाला तत्त्व है। यह स्वयं कर्त्ता है, स्वयं भोक्ता है और सर्वज्ञ है। यह चेतना युक्त है।

आत्मा पंचेन्द्रिय जीव बनते समय छः पर्याप्तियाँ प्राप्त कर लेती है। १) आहार २) शरीर ३) इंद्रियाँ ४) श्वासोच्छवास ५) भाषा और ६) मन। प्रत्येक संसारी जीव की आत्मा अजीव रूपी कर्म पुद्गलों से बंधी हुई संसार में अनादिकाल से भ्रमण कर रही है। कर्मों के बंध अपने-अपने कर्मों के हिसाब से पाप-पुण्यों के रूप में जीवन में क्रमशः बुरे और अच्छे फल देते हैं। नये कर्मों के जीवन में निरंतर बंधते रहना बंध, बंधों का जीव से निरंतर

संलग्न होते जाना आस्रव, नये बंध बंधने की श्रृंखला को तोड़कर रोकना संवर, बंधे हुए कर्मों का क्षय करना निर्जरा और आत्मा का कर्म बंधन से पूर्ण छुटकारा पा लेना मोक्ष कहलाता है।

नये कर्मबंधों से कैसे बचना? बंधे हुए अपने कर्मबंधों की निर्जरा कैसे करना? जीव को पूर्ण रूप से मुक्ति कैसे मिले? इन सब बातों को जानने के लिए पहले जैन शास्त्रों के अनुसार सात तत्त्वों के स्वरूप को समझना होगा। शास्त्रों में पाप-पुण्य को अलग तत्त्व नहीं मान कर बंध और आस्रव के अंतर्गत मान लिया जाता है। मुख्य रूप से नौ द्रव्य कहा जाता है जिसमें उपरोक्त सात तत्वों के साथ पाप-पुण्य जोड़कर नौ द्रव्य कहलाते हैं। जगत में आत्मा निरंतर अजीव (कार्मिक पुद्गलों) तत्त्वों से संयुक्त रहती है। यही आत्मा जीव तत्त्व है। यह मन, इंद्रियाँ, विषय के वशीभूत होकर भावों से कर्म बंधन में बंध जाती है। यह अरूपी आत्मा कर्मपुद्गलों से बंधी अपने को स्वयं कर्ता और भोक्ता समझकर कर्म करती रहती है। संसार में आत्मा अपने कर्मों की तीव्रता, मंदता के हिसाब से विविध रूपों में जीव बनकर जन्म लेती है। इसलिए कर्म पुद्गलों से संलग्न आत्मा जीव कहलाती है। जीवों के कर्मों के अलग-अलग माप दंडों के हिसाब से कई तरह से भेद किये जाते हैं। आगम में आत्मा और जीव दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ये जीव दो प्रकार के होते हैं १) मुक्त जीव और २) संसारी जीव।

१) जीव के उपयोग का अर्थ ज्ञान-दर्शन की शक्ति है।

२) त्रस और स्थावर रूप में जीव के दो भेद होते हैं।

एकेंद्रिय सभी स्थावर जीव होते हैं। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी त्रस जीव होते हैं।

३) पुल्लिंग, स्त्रीलिंग व नपुंसक लिंग रूप में जीव के तीन भेद होते हैं।

४) नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के रूप में जीव के चार भेद होते हैं।

५) एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीव के इन्द्रियों के आधार पर पाँच भेद हैं।

१) एकेन्द्रियः- पृथ्वीकाय, अपकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय व वनस्पतिकाय के एक स्पर्श इंद्रिय होती है।

इनके चार पर्याप्तियाँ होती है:-१) आहार २) शरीर ३) इंद्रियाँ और ४) श्वासोच्छवास।

२) द्वीन्द्रियः- स्पर्श और रसन इंद्रियों से युक्त शंख, जोंक, कीड़ा, लट इत्यादि के दो इन्द्रियाँ होती है।

३) त्रींद्रियः- स्पर्श, रसन एवं घ्राण इन्द्रियों से युक्त जूँ, मकोड़े, चींटी इत्यादि के तीन इंद्रियाँ होती है।

४) चतुरिंद्रियः- स्पर्श, रसन, घ्राण, एवं चक्षु सहित भंवरा, मक्खी, मच्छर, बिच्छू इत्यादि के चार इन्द्रियाँ होती है।

द्वीन्द्रिय, त्रींद्रिय और चतुरिन्द्रिय के पाँच पर्याप्तियाँ होती है:-

१) आहार २) शरीर ३) इंद्रियाँ ४) श्वासोच्छवास और ५) भाषा।

५) पंचेन्द्रियः- स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रवण पाँच इन्द्रियों वाले जीव पंचेन्द्रिय होते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव सैनी और असैनी दो तरह के होते हैं। जिनके छठी पर्याप्ति मन होता है, वे सैनी या संज्ञी जीव भी कहलाते हैं और जिनके मन नहीं होते हैं वे असैनी या असंज्ञी जीव कहलाते हैं। इसलिए पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव के छः पर्याप्तियाँ होती है। यह नभचर, थलचर और जलचर के हिसाब से तीन तरह के होते हैं।

नारकी, तिर्यंच, देव और मनुष्य के हिसाब से चार तरह के होते हैं। कबूतर, चिड़िया, मछली, घोड़े, हाथी, शेर, मनुष्य, देव, नारकी इत्यादि प्राणी पंचेन्द्रिय होते हैं। आत्मा निरंतर संसरण करती रहती है। अनादिकाल से जगत में भ्रमण करती रहती है। जब तक नये शरीर में प्रवेश नहीं करती तब तक वह विग्रह गति (अर्थात् एक जन्म से दूसरे जन्म में जन्म लेने तक का समय) में बिना पर्याप्ति के तेजस और कार्मण शरीर के साथ रहती है। उस समय आत्मा

की नोकर्म की अवस्था होती है। नोकर्म अर्थात् कर्म बंधन के साधन शरीर आदि पर्याप्ति से रहित।

सांसारिक रूप से जीव के और भी कई तरह से भेद-प्रभेद होते हैं। जिनकी विस्तृत जानकारी गोम्मटसार आदि शास्त्रों में हमें मिलती है। यह जीव तीनों लोकों में विद्यमान है जो इस प्रकार है:-

१) अधोलोक २) मध्यलोक और ३) ऊर्ध्वलोक।

इस तरह एक लोक में कई उपलोक और पृथ्वियां विद्यमान हैं। इनमें असंख्य जीवों की श्रेणियां भी स्थित हैं।

◆◆

अध्याय - १३

अजीव

कुंडलिया छंद

पूरे जग में व्याप्त हैं, ये अजीव जो तत्व।
रहे मूलतः भाव में, इनका अपना सत्व।।
इनका अपना सत्व, धर्म अधर्म पुद्गल में।
काल और आकाश, इन पाँचों के संग में।।
पुद्गल में 'मधु' रूप, जीव बिना हैं अधूरे।
होते मूर्त अमूर्त, जगत में हैं ये पूरे।।२९।।

अर्थः- जीव-अजीव तत्त्व अपना मूल गुण धर्म नहीं छोड़ते हैं। अजीव तत्त्व कुछ मूर्त होते हैं तो कुछ अमूर्त। इनके पाँच भेद हैं। ये संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त हैं जो निम्न प्रकार हैं:-

१) आकाश २) काल ३) पुद्गल ४) धर्म और ५) अधर्म।

व्याख्याः- पूरे लोकाकाश में अजीव तत्त्व व्याप्त हैं। पाँचों अजीव तत्त्वों में से पुद्गल कर्म रूपी अजीव तत्व का आत्मा के साथ संयोग होता है। जीव चेतन होता है और अजीव तत्त्व पुद्गल अचेतन होता है। जीव के अलावा किसी द्रव्य में चेतना का गुण नहीं होता है। इसलिए बाकी पाँचों अजीव की श्रेणी में आते हैं। पुद्गल द्रव्य में आकार और रूप, रस, गंध, वर्ण व स्पर्श होता है अतः ये रूपी है। बाकी पाँचों द्रव्य अरूपी हैं। धर्म, अधर्म और आकाश

संख्या में एक है। काल, पुद्गल और जीव अनंत है। पुद्गल परमाणु अनंतानंत हैं। कालाणु असंख्यात हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल की वैभाविक परिणति नहीं होती है। ये सदैव अपने मूल स्वभाव में ही रहते हैं। मूल स्वभाव से जीव शुद्ध और सिद्ध ही होता है। पुद्गल परमाणु भी शुद्ध पुद्गल द्रव्य ही है, परंतु जीव और पुद्गल में वैभाविक परिणमन (एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में समाहित होने की क्षमता जो क्षणिक और क्षणभंगुर होती है। यह स्थायी रूप से नहीं रहती है।) होता है। इसीलिए जीव अजीव के साथ समाहित होकर संसार के भंवर जाल में फंस जाता है। इस प्रकार परमदर्शी जिनवरों ने लोक को छः द्रव्यों से भरा हुआ कहा है जो इस प्रकार है - १) आकाश २) काल ३) पुद्गल ४) धर्म ५) अधर्म और ६) जीव।

◆◆

कुंडलिया छंद

गहरा तो आकाश है, इसमें सभी समाय।
देता रोक अधर्म गुण, गति में धर्म सहाय।।
गति में धर्म सहाय, करे करनी जो जैसी।
जुड़ते पुद्गल जीव, बने जीवन गति वैसी।।
काल द्रव्य 'मधु' साथ, यही गणना का पहरा।
भरे लोक में जीव, इसी का रहस्य गहरा।।३०।।

अर्थः- आकाश अनंत है। जहाँ समस्त जीव जगत विद्यमान है। धर्मास्तिकाय तत्व जीव की गति में उदासीन रूप से सहायक है और अधर्मास्तिकाय जीव की स्थिति में उदासीन रूप से सहायक है। जैसे पुद्गल रूपी कर्म, जीव से जुड़ते हैं वैसी हर जीव के सांसारिक जीवन की रूपरेखा तय होती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल के कारण ही संभव हैं।

व्याख्याः- अजीव सर्वथा निष्क्रिय चेतना शून्य जड़ है। जीव के संसर्ग से पुद्गल में पर्याप्ति, प्राण, गुणस्थान, भोग, उपभोग इत्यादि क्रियाएँ होने लगती हैं अन्यथा बिना जीव के कर्मपुद्गलों में ये सभी क्रियाएँ नहीं हो सकती हैं। इसलिए जीव के कारण ही कर्म पुद्गल अस्तित्व में रह सकता है।

अजीव तत्त्व के पाँच भेद है। जो निम्न प्रकार है-

(१) आकाशास्तिकायः- आकाश का विस्तार अनंत है। जहाँ समस्त द्रव्य विद्यमान है वह लोकाकाश है और जहाँ द्रव्य विद्यमान नहीं है वह अलोकाकाश है। इस तरह आकाश के दो भेद बताया गये हैं। लोकाकाश और अलोकाकाश। इसका नील वर्ण पुद्गलों की छाया मात्र है।

(२) कालः- पुद्गल परमाणु के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक पहुँचने के काल को समय कहते हैं। यह वस्तु के परिणमन में सहायक है। समय काल की लघुतम इकाई है। पहले विज्ञान प्रत्येक वस्तु के तीन आयाम मानता था। १) लंबाई २) चौड़ाई और ३) मोटाई। आज वैज्ञानिक रूप से चौथा आयाम 'काल' को भी मान्यता प्राप्त है। जिससे कार्बन डेटिंग प्रणाली के आधार पर वस्तु के प्राचीन होने का अनुमान लगाया जाता है। प्राचीन काल से जैन शास्त्रों में काल का विवरण मिलता है। काल चार तरह से कार्य करता है-

१) वर्तनाः- प्रत्येक पदार्थ की पर्याय बदलने में काल निमित्त बनता है।

२) परिणामः- प्रत्येक परिणमन में सहायक बनता है।

३) क्रियाः- काल प्रत्येक क्रिया में निमित्त बनता है

४) परत्व-अपरत्वः- जो द्रव्यों के परिवर्तन के दशा की पहचान करवाता है। जैसे नया, पुराना, बचपन, जवानी, बुढ़ापा, महीना, वर्ष, घंटा, मिनट इत्यादि।

जहाँ आज संख्याएँ एक से दस शंख तक मानी गयी है वहाँ जैन आगम में काल के सूक्ष्मतम हिस्से का भी विशेष रूप से वर्गीकरण किया गया है।

उदाहरणः- काल की सूक्ष्मतम इकाई = समय

जघन्ययुक्त असंख्यात समय = १ आवलिका

४४४६आवलिका = १ श्वासोच्छवास

७ श्वासोच्छवास = १ स्तोक

७ स्तोक = १ लव

७७ लव = १ मुहूर्त

३० मुहूर्त = १ दिन-रात

१५ दिन-रात = १ पक्ष

२ पक्ष = १ माह

२ माह = १ ऋतु

३ ऋतु = १ अयन

२ अयन = १ वर्ष

इस तरह और आगे की गणनाएं क्रमशः युग, पूर्वांग, पूर्व, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि की गई है।

(३) पुद्गलः- सबसे छोटा पुद्गल परमाणु कहलाता है जो इंद्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। पुद्गलों का समूह स्कंध कहलाता है। स्कंधों के आपस में टकराने से शब्द की उत्पत्ति होती है।

पुद्गल की पर्यायें:- अंधकार, छाया, प्रकाश, शब्द इत्यादि है।

पुद्गल के धर्म:- वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हैं।

१) वर्ण:- काला, पीला, लाल, नीला, सफेद,

२) गंध:- सुगंध, दुर्गंध,

३) रस:- तिक्त, कसैला, कड़वा, खट्टा, मीठा,

४) स्पर्श:- कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध।

शब्द, छाया, आतप और उद्योत को भी पौद्गलिक माना गया है।

कर्म पुद्गलों का जीव के साथ संसर्ग होने पर जीव इन्हें अपना मानकर इनमें रस लेने लगता है।

(४) धर्मास्तिकायः- धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल को गति देने में उदासीन रूप से सहायक तत्त्व है। जैसे गमन करने की शक्ति मछली में निहित है, परंतु जल उदासीन रूप से उसकी गति में सहायक है। जैसे पटरियां अपनी जगह स्थित होते हुए रेलयान के चलने में सहायक है।

(५)अधर्मास्तिकायः- अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल को स्थित करने में उदासीन रूप से सहायक तत्त्व है। जैसे वृक्ष के निमंत्रण नहीं देने पर भी गर्मी में छाया पाने के लिए व्यक्ति वृक्ष के नीचे ठहर ही जाता है। अतः वृक्ष व्यक्ति की स्थिति में उदासीन रूप से सहायक होता है। अब तो भौतिक शास्त्र भी गति और स्थिति के माध्यम को स्वीकारने लगा है जो महावीर स्वामी जी ने आज से २६०० वर्ष पूर्व बताया था।

लोक का स्वरुप / जैन प्रतीक का विश्लेषण

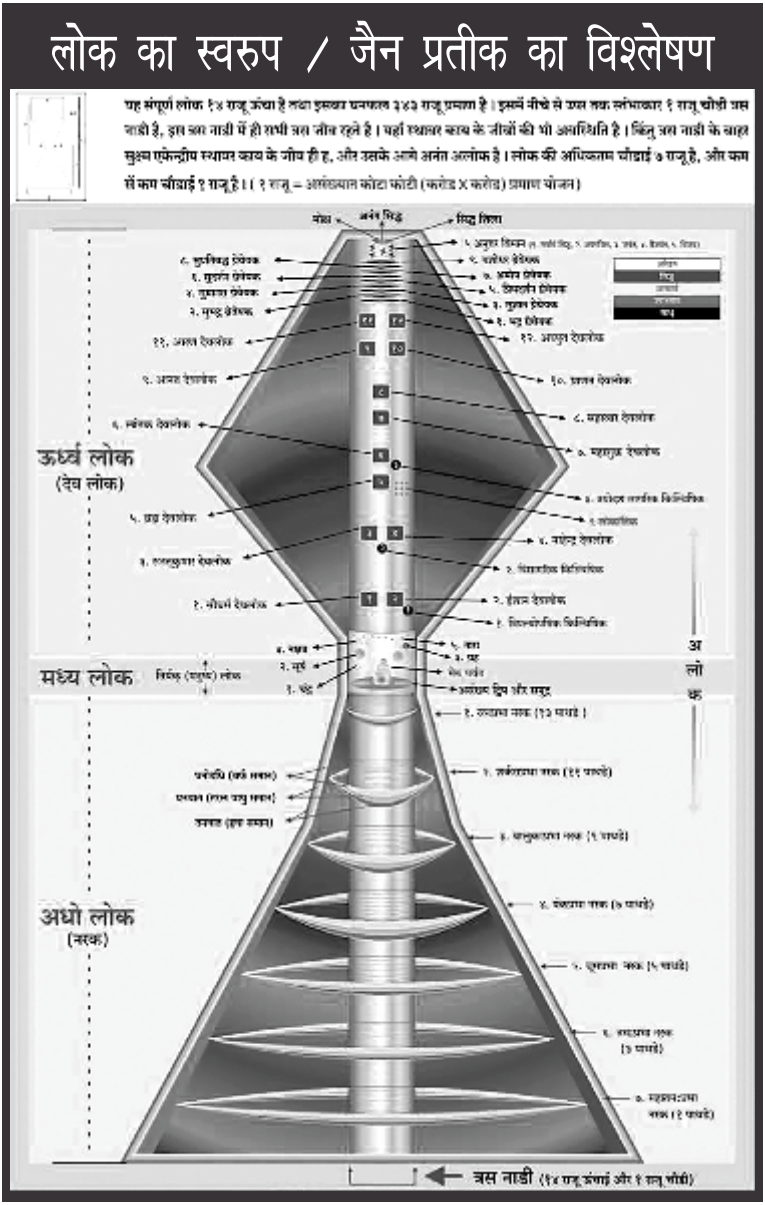

त्रिलोक की स्थिति

अध्याय - १४

कर्मबंध

जो जीव बंध मुक्त हैं वे मोक्ष गमन कर चुके हैं और जो जीव कर्मों के बंध से बंधे हैं वे सांसारिक जीव है। सभी जीवों के साथ बंध होने योग्य अजीव कर्म-पुद्गल समस्त आकाश प्रदेशों में हर दिशा में व्याप्त है। ये पुद्गल स्कंध की कर्मणाएँ जीव के राग-द्वेष आदि परिणामों के कारण उनके आत्म प्रदेशों के साथ संलग्न हो जाती है यही कर्मबंध है। जीव अपने मन के द्वारा इंद्रियों के विषयों के रूप में आए या ग्रहण किए गए पदार्थों को जानता और देखता है उन्हीं से उपरक्त (भावों के प्रभाव में आकर राग द्वेष से बंध जाना) होता है। इन्हीं से नवीन कर्मों का बंध करता है। यह कर्मबंध जीव के साथ अपने निश्चित काल के साथ बंधे हुए रहते हैं जो समय-समय पर पाप-पुण्य के रूप मे फलीभूत होते हैं। ये कर्म बंध अगले जन्म में भी साथ चलते हैं। ये दो तरह के होते हैं।

१) द्रव्य कर्म बंध :- पुद्गल द्रव्य में आत्मा के साथ बंधने की शक्ति को 'द्रव्य बंध' कहते हैं।

२) भाव कर्म बंध:- कषाय रूपी भावों का आत्मा से बंधना 'भाव बंध' कहलाता है। भाव बंध के कारण ही द्रव्य बंध होता है।

कर्मबंध के पाँच मुख्य कारण हैं:-

१) मिथ्यात्व २) अविरति ३) प्रमाद ४) कषाय और ५) योग।

यदि जीव अपने कर्मबंधों के कारणों को समझ कर कर्मों की निर्जरा करता रहे तो उपरोक्त कर्म बंध के कारण क्रम से निश्चित ही छूटते हैं। उत्तरोत्तर गुणस्थानों की यात्रा वह क्रम से पार कर सकता है। मिथ्यात्व छूटने पर जीव चौथे गुणस्थान में पहुँच जाता है। छठे गुणस्थान में अविरति छूट जाती है। प्रमाद छूटने पर जीव सातवें गुणस्थान में पहुँच जाता है।

आठवें से दसवें गुणस्थान में पहुँचने पर कषाय छूट जाता है। तेरहवें गुणस्थान तक योग रहता है। वर्तमान काल में मिथ्यादर्शन, प्रमाद और अविरति छोड़ सकते हैं। जिसका सभी को प्रयत्न करना चाहिए। आगे इसे विस्तार से समझते हैं।

कर्मबंध के आठ भेद हैं:-

१) ज्ञानावरणीय २) दर्शनावरणीय ३) मोहनीय ४) अंतराय। ये चार घाती कर्म कहलाते हैं।

५) आयु ६) नाम ७) गोत्र और ८) वेदनीय। ये चार अघाती कर्म कहलाते हैं।

◆◆

कुंडलिया छंद

आत्मा निज स्वरूप से, रहती है अनजान।
घाती उसका घात है, नहीं अघाती भान।।
नहीं अघाती भान, आयु गति नाम झमेले।
वेदनीय फिर गोत्र, सदा द्वंद्वों को झेले।।
मोह बना 'मधु' बंध, मिले कैसे परमात्मा ।
अंतराय अवरोध, भाव मिथ्या में आत्मा।।३१।।

अर्थः- आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से अनजान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय घाती कर्मों के कारण कर्मबंधों में बंध जाती है फिर वेदनीय, आयु, नाम, जाति इन अघाती कर्मों को भोगने के लिए संसार में आवागमन करती रहती है। आत्मा मोह बंध के कारण वेदना झेलते हुए संसार के द्वंद्वों में उलझी रह जाती है। मिथ्यात्व और मोह वश मनुष्य के जीवन में जो अवरोध आते हैं इनसे छूटने के उपाय ढूँढ़ना जरूरी है।

व्याख्याः- कर्म के स्वभाव को 'प्रकृति बंध' कहते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय इन चार घाती कर्मों के कारण आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघाती कर्मों को भोगने के लिए आत्मा इस संसार में अनंत काल से भ्रमण कर रही है। इनको समझने के लिए कर्म बंध के कारणों को समझना होगा। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप की पहचान नहीं होने देने में आस्रव अवरोध डालते रहते हैं ये ही कर्मबंध के मुख्य कारण हैं:-

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग।

इनके कारण ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान नहीं पाती है और वह १) ज्ञानावरणीय २) दर्शनावरणीय ३) मोहनीय और ४) अंतराय इन चार घाती कर्मों में बंध कर जन्मजन्मांतर से संसार में भ्रमण करते हुए अपना ही घात करती आयी है। आत्मा अपने कर्मों के अनुसार इन अघाती कर्मों को भोगने के लिए स्वर्ग, नरक, तिर्यंच, मनुष्य के रूप में एक निश्चित आयु, ऊँच-नीच गोत्र में भ्रमण करते हुए, साता वेदनीय (पुण्य) और असाता वेदनीय(पाप) के रूप में क्रमशः सुख, दुख, कीर्ति, वैभव, यश, अपयश, नाम इत्यादि भोगती रहती है। इस तरह आत्मा इन अघाती कर्मों के बंधन में जन्मजन्मांतर तक बंधी रहती है। इन सभी घाती-अघाती कर्मों का नाश करके मुक्ति पाना ही आत्मा का सदैव लक्ष्य रहा है।

जब तक आत्मा अपने मूल स्वभाव से अनजान है। तब तक वह इस जगत में अनंतकाल तक भ्रमण करते हुए इंद्रियों के वशीभूत होकर विषय-कषायों में डूबी हुई सांसारिक झमेलों में उलझी ही रहती है, जो अनंत जन्मों तक चलता रहता है। आत्मा को आठों कर्मों का फल भोगना पड़ता है। अपने मन, वचन और काया से कर्मबंध होते हैं इनके प्रमाण के हिसाब से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय का निरंतर क्षयोपशम होता रहता है। ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय के कारण ज्ञान और दर्शन निरावृत नहीं होते हैं। उन पर अज्ञान और मिथ्यात्व का आवरण रहता है। मोहनीय कर्म सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का घात करते रहते हैं। अंतराय कर्म दान, लाभ, उपभोग व वीर्य में विघ्न डालते हैं।

◆◆

कुंडलिया छंद

हँसते हँसते बांधते, हम तो अपने कर्म।
रहती मन में वेदना, कब समझेंगे मर्म।।
कब समझेंगे मर्म, नहीं मिलता हल हमको।
होना चाहें मुक्त, छोड़ दें फिर इस तम को ।।
आत्मा पर 'मधु' बोझ, आठ बंधन में फँसते।
खोलो मन की गाँठ, जियो जीवन फिर हँसते।।३२।।

अर्थ:- जो कर्म हम हँसकर करते हैं वे पापबंध के कारण भी बन सकते हैं। कष्ट उठाकर किये गये कार्य भी पुण्यबंध के कारण बन सकते हैं। साधारण व्यक्ति इन सब बातों को नहीं जानता है इसलिए इन बंधनों को काटने के लिए जब जगत में आता है तो उसे आत्मा पर पड़े अपने इन कर्मबंधनों की गाँठे खोलने के लिए सचेत हो जाना चाहिए।

व्याख्या:- संसारिक क्रियाकलाप जो सुख देते हैं वे जरूरी नहीं है कि सभी अच्छे हों। सदा कर्म करते हुए विवेक का उपयोग करना जरूरी है। अच्छे कर्म करने के लिए मन बहुत पक्का करना पड़ता है। कई बार जीवन में अवरोध भी आते हैं फिर भी ये कर्म पुण्यबंध के कारण बनते हैं जो हमें सुख प्रदान करते हैं। कभी दूसरों के कारण जो दुख मिलते हैं वे भी पिछले जन्म के कर्म काटने के लिये भी हो सकते हैं। इन पाप-पुण्यों को काटने और नये कर्म-बंधन बांधने की श्रृंखला तो अनवरत चलती रहती है। मिथ्यात्व के कारण व्यक्ति आज अपनी सही स्थिति को समझ नहीं पा रहा है। मिथ्यात्व और कषाय का आवरण आत्मा पर इस कदर छाया रहता है कि जीव को सही मार्ग समझ में ही नहीं आता है। जीव जितना जल्दी इन बंधनों को काटने की प्रक्रिया समझ लेगा उतना ही इस जीवन में सुख चैन से जी सकेगा और आगामी जीवन के लिये आत्मा की शुद्धि भी कर सकेगा। जैन दर्शन का कर्म सिद्धांत मौलिक और अप्रतिम है।

कुंडलिया छंद

रहते सभी विशेष हैं, जीव द्रव्य जो जान।
कल्पित इष्ट अनिष्ट हैं, सुखद दुखद मत मान।।
सुखद दुखद मत मान, पराये इन द्रव्यों को।
राग द्वेष के भाव, बाँध ले भवितव्यों को।।
पर से क्यों 'मधु' रोष, भूल तो सब मिल सहते।
खुद के मन पर जोर, स्वयं हम दोषी रहते।।३३।।

अर्थः- सिर्फ अपनी आत्मा के गुण धर्म सत्य है बाकी जीव, अजीव इत्यादि द्रव्य अपने-अपने मूल स्वभाव में बंध कर अपनी क्रियाएँ करते रहते हैं, अपने-अपने भवितव्यों से बंधे हुए अपने कर्म करने में तल्लीन रहते हैं, कोई किसी और के अनुसार जब कर्म ही नहीं करता है तो फिर किसी और को अपने सुख-दुख का कारण मानकर क्रोध आदि कषाय करना हमारी सबसे बड़ी भूल नहीं तो और क्या है!

व्याख्याः- हर जीव-अजीव तत्व का अपना मूल गुणधर्म होता है। सभी अपने मूल स्वभाव से बंधे हुए क्रियाएँ करते हैं फिर किसी और को अपने कष्ट या अनिष्ट का कारण मानना सर्वथा गलत है। हमारे ईष्ट-अनिष्ट का कारण कोई और हो ही नहीं सकता अतः किसी और के प्रति राग-द्वेष रखकर अपने मन से उलझना या दूसरे पर रोष करना बिल्कुल ही गलत है। जिस तरह अज्ञानवश अँधेरे में रस्सी को सर्प समझकर व्यक्ति डरने लगता है उसी तरह जीव अपनी अज्ञानता से मिथ्यात्व में पड़कर शरीर, परिवार, जगत आदि सभी द्रव्यों को अपना मानकर राग-द्वेष करने लगता है। इनके कारण जीव क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषाय भावों में घिर जाता है। अतः इनके मूल कारणों को समझने की आवश्यकता है। मन के अशुद्ध भावों को छोड़ कर आगामी कर्म बंधन से बचने की आवश्यकता है ताकि हम अपने भावों के कारण अपनी आत्मा से पूर्व बंधे हुए कर्मबंधन से छुटकारा पा सकें और सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर आत्मा को शुद्ध रूप से जान सकें।

कुंडलिया छंद

रहता बीज कषाय का, मनुज रहे अनजान।
उपजे राग द्वेष जो, मिलता कैसे ज्ञान।।
मिलता कैसे ज्ञान, ज्ञानावरणीय रोड़े।
जीवन भर का राग, पल आनंद के छोड़े।।
चिंतन की 'मधु' बात, रोग तो तन भी सहता।
सूझे क्या कुछ और, द्वेष जो मन में रहता।।३४।।

अर्थः- अज्ञानवश मनुष्य विभिन्न कषायभावों के बीच झूलता रहता है उसके कारण मन राग-द्वेष में ही इतना उलझा रहता है कि जीवन के सुखद पलों का भी भोग वह नहीं कर पाता है। जब मन स्वस्थ नहीं रहता है तो तन भी अस्वस्थ हो जाता है। व्यक्ति कई रोगों से घिर जाता है।

व्याख्याः- जब भी मनुष्य के मन में कषाय भाव उत्पन्न होते हैं तो उसका एक कारण अज्ञान होता है जो जीव ज्ञानावरणीय कर्मों से आच्छादित है वह अज्ञानता के कारण ही किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष करता रहता है या मिथ्या ज्ञान में इस कदर जकड़ा हुआ है कि उसे सही गलत का भान ही नहीं हो पाता है। वह अज्ञानवश अपने अंदर विश्वास नहीं जगा पाता है। अकसर हम देखते हैं कि कई लोग क्रोध, ईर्ष्या आदि कषाय भाव लाकर सुख शांति से व्यतीत होने वाले समय को भी दुख में बदल देते हैं। ये भाव मन के साथ-साथ तन को भी रोगी बना देते हैं और फिर जब यह भाव स्वभाव में परिवर्तित हो जाते हैं तब कुछ समझ ही नहीं आता है कि इस उलझन से बाहर कैसे निकलें। निरंतर सही शास्त्रों का पठन-पाठन या श्रवण करके अपनी अज्ञानता को दूर करने का प्रयत्न करने से सही मार्ग स्वतः समझ में आने लगता है। अतः अज्ञानता हमारे कर्मबंधन का एक बहुत बड़ा कारण है। अज्ञानवश हम अपने कषाय भावों को नहीं छोड़ पाते हैं। कषाय भावों का त्याग करने का भाव जब तक हमारे चरित्र में नहीं उतर जाता तब तक कर्मबंध से नहीं छूट सकेंगे।

कुंडलिया छंद

बंधन है मिथ्यात्व का, आत्मा है अनजान।।
छोड़ें घाती कर्म को, पाकर सम्यग्ज्ञान।
पाकर सम्यग्ज्ञान, जगत में जीव न भटके।
करना तत्व विचार, क्यों हम आज हैं अटके।।
शुद्ध भाव 'मधु' संग, रहे न कर्म आलंबन।
हुआ ज्ञान का बोध, छूटने लगते बंधन।।३५।।

अर्थः - मिथ्यात्व एक ऐसा कर्मबंध है जिसके कारण मनुष्य भ्रम में जीता है। सम्यग्ज्ञान पाने से ही यह मिथ्यात्व छूटता है तभी जीव अपने शुद्ध स्वरूप आत्मा को पहचान सकता है। जीव सही ज्ञान की राह अगर एक बार पकड़ ले तो आगे वह स्वयं अपने सारे कर्मबंधों से छुटकारा पा सकता है।

व्याख्याः - मिथ्यात्व बंध आठ बंध में से एक प्रमुख कारण है जो आत्मा को जन्मजन्मांतर तक अपने शुद्ध स्वरूप से अनजान रखता है। आत्मा अपने सही स्वरूप को मिथ्यात्ववश नहीं जान पाती है कभी-कभी तो आत्मा पर मिथ्यात्व का आवरण इस कदर छाया रहता है कि सही स्वरूप को जानने के भाव भी आत्मा में पैदा नहीं होते हैं। जब क्षयोपशम लब्धि (कुछ कर्मों का क्षय और कुछ कर्मों का उपशम होने) का योग आता है तब आंशिक दर्शन मोहनीय कर्मों की निर्जरा करते हुए जीव उस स्थिति को प्राप्त करता है जहाँ से उस को ज्ञान प्राप्त करने की रुचि पैदा होती है तभी जीव अपने शुद्ध स्वरूप में आस्था रख सकता है।

जीव को जब भी प्रथम बार सम्यक्त्व होता है तो वह उपशम सम्यग्दर्शन होता है। वह एक अंतर्मुहूर्त तक ही रहता है। इसके बाद जीव या तो पुनः मिथ्यात्व में चला जाता है और या उसे क्षयोपशम प्राप्त हो जाता है क्षायिक सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान सम्यक हो जाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

कुंडलिया छंद

सुख दुख के हर खेल में, मोह भाव है मूल।
मान सको तो मान लो, वरना होगी भूल।।
वरना होगी भूल, यही बड़ी जो हमारी।
नहीं किसी का काम, बड़ी मोह की खुमारी।।
जो बढ़ता 'मधु' मोह, रहे अपने ही दुख सुख।
मन में मचे बवाल, हमें ये देते सुख दुख।।३६।।

अर्थः- मनुष्य के सुख-दुख के पीछे मोहबंध एक बहुत बड़ा कारण है। मनुष्य जिसके प्रति मोहभाव ज्यादा रखता है उसके कारण ही अपने मन के भावों के कारण सुख-दुख महसूस करता है। हम जगत को जिसका कारण समझते हैं यह अपना भ्रम मात्र है। दूसरों के प्रति मोह भाव ही हमारे मन को उद्वेलित करता रहता है।

व्याख्याः- हमारे जीवन में सुख-दुख आने का मूल कारण हमारे अंदर बैठा मोहनीय कर्म बंध है। मोहवश हमारे मन में दूसरों के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। जिससे हम सुख-दुख महसूस करते हैं। जीव जिस बाहरी जगत को राग, द्वेष आदि कषाय भाव का कारण मानता है वह तो निमित्त मात्र होते हैं। हमें अपने मन में बैठे मोह पर काबू पाने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस किसी वस्तु या प्राणी से मोह होता है उसी के प्रति हमारे मन में कषाय भाव उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जाने अनजाने में हम अपने से ज्यादा जब दूसरे से प्राप्त करने के भाव बना लेते हैं और वह जब अपने मन के अनुसार नहीं दे पाता है तो हमें दुख होता है और दे देता है तो सुख मिलता है। इन्हीं भावों के वशीभूत होकर इस जन्म में हम सुख-दुख भोगते हैं और इन्हीं भावों के कारण कर्म बंध होते हैं जो अगले जन्म तक साथ चलते हैं। इसलिए सदैव मन में उठने वाले मोह भाव पर काबू पाते हुए हमें अपने भावों के प्रति सतर्क रहना चाहिए। मोहनीय बंध छोड़ना सबसे मुश्किल है।

कुंडलिया छंद

धागा यह जो मोह का, सूक्ष्म बहुत है जान।
मुश्किल बंधन तोड़ना, पूरे जीवन मान।।
पूरे जीवन मान, जीव रहता अनजाना।
दूजे पर अधिकार, भाव अनुराग जताना।।
रखना 'मधु' ये ध्यान, फिरे वो भागा भागा।
छूटे संयम हाथ, मोह का पक्का धागा।।३७।।

अर्थः- मोहबंध का धागा इतना सूक्ष्म होता है कि अच्छे-अच्छे ज्ञानियों को भी इसका बंधन महसूस नहीं होता है और महसूस हो भी जाये तो इसका बंधन इतना मजबूत होता है कि छुड़ाये नहीं छूटता है। जीवन भर व्यक्ति इस बंधन को छुड़ाने का प्रयत्न करता रहता है। संयमी मनुष्य भी इस धागे को तोड़ने का आजीवन प्रयत्न करते रहते हैं।

व्याख्याः- मोह का बंधन इतने सूक्ष्म धागे जैसा होता है कि बिना महसूस किये व्यक्ति इस बंधन में बंधा रहता है। मोहवश सभी के प्रति लगाव रखना और अधिकार जताना व्यक्ति के साथ जीवन पर्यंत चलता रहता है। वह अपने आसपास की सभी चीजों और रिश्तों को अपना मानने लगता है और उस पर हक जताने लगता है और जिस पर मोहित है उसका सान्निध्य नहीं मिलने पर और उसे प्राप्त नहीं करने पर उद्वेलित हो जाता है। इसी के तहत इंसान मोहजाल में फंसता जाता है। वह अपने आप पर काबू नहीं रख पाता है। ज्यादातर असंयमी व्यक्ति के मोह-बंधन और मजबूत होते चले जाते है। इसके लिए अपने स्वभाव में जितना संयम लाने का प्रयत्न करेंगे उतना अच्छा है। उतने ही हमें अच्छे परिणाम प्राप्त होंगे।

कुंडलिया छंद

माटी से बनता घड़ा, घड़ता जो कुम्हार ।
कलाकार है वो बड़ा, दे देता आकार।।
दे देता आकार, ममत्व उसे हो जाता।
बिकता माटी मोल, रहे बस इतना नाता।।
गहरी है 'मधु' जान, यही मोहनीय घाटी।
एक दिन तो विछोह, मिले माटी में माटी।।३८।।

अर्थः- कुम्हार जब मिट्टी से एक घड़े को घड़ता है तब बड़े जतन से उस घड़े को आकार देता है। घड़ा बनाते हुए कुम्हार को घड़े से ममत्व भी हो जाता है उसे लगने लग जाता है कि यह मेरा घड़ा है इसको मैनें बनाया है, परंतु फिर भी कुम्हार को एक दिन उस घड़े को अपने आप से पृथक तो करना ही पड़ता है। घड़े का मोह छोड़ना ही पड़ता है। एक दिन किसी और के हाथ में अपने घड़े को सौंपना ही पड़ता है। मिट्टी ही घड़े के अस्तित्व के साथ सदा रहेगी। घड़ा तो मिट्टी का ही कहलायेगा कुम्हार का नहीं। कुम्हार और मिट्टी के घड़े का एक निश्चित समय तक ही साथ रहेगा।

व्याख्याः- आत्मा पूरे मनोयोग से कर्म पुद्गलों से मिलकर शरीर की रचना करती है। भावों में बहकर अपने कार्माण शरीर के साथ तादात्म्य रखती है। शरीर से कर्म करवाती है, इंद्रियों के द्वारा विषयों से तादात्म्य करवाती रहती है। इस दौरान आत्मा स्वयं अपने आपको कर्ता और भोक्ता मानते हुए मन के सुख-दुख को भोगने लगती है। जिस तरह घड़े से कुम्हार का विछोह तय है वैसे ही शरीर का एक दिन आत्मा से विछोह तय है फिर जब शरीर ही शाश्वत नहीं है तो उसके रिश्ते-नाते भी नश्वर ही है। इसके बावजूद सबसे इतना ममकार क्यों रखते हैं? इस पर चिंतन करने की आवश्यकता है।

कुंडलिया छंद

धारण अहं बुद्धि करे, जीव भ्रमित अनजान।
मिथ्या भाव प्रकट रहे, दर्शन मोह प्रधान।
दर्शन मोह प्रधान, जीव करता ममकारा।
अटके सब में जान, भाव जग में जयकारा।।
होती 'मधु' ये भूल, देख भावों के कारण।
भटका यह तो जीव, मोह को करके धारण।।३९।।

अर्थः- अनादि काल से जीव इस जगत में भ्रमण कर रहा है। पदार्थों के सही स्वरूप का ज्ञान नहीं होना ही मिथ्यात्व है। शरीर, मन, आहार आदि पर्याप्तियों के प्रति आसक्ति के कारण मोह उत्पन्न होता है जो अहं का मूल कारण है। मोह ही मन में कषाय भाव उत्पन्न करता है। फिर व्यक्ति मोह वश सबके प्रति राग-द्वेष करने लगता है, जिसे दर्शन मोह कहते हैं।

व्याख्याः- मोहनीय बंध के कारण जीव भ्रमित रहता है। जीव अहंभाव लेकर ही जगत में आता है। मनुष्य मोहवश सभी से रिश्ते नाते जोड़ता चला जाता है। उसका प्रभाव मनुष्य पर दो प्रकार से पड़ता है। पहला भावों से और दूसरा चरित्र से। भावों से मोह में बंधना 'दर्शन मोह' कहलाता है। मनुष्य अहं बुद्धि के कारण आत्मा और शरीर में भेद नहीं कर पाता है। वह शरीर के साथ-साथ कुटुंब और धन को भी अपना समझने लगता है। फिर आत्मा पर मोह का आवरण इस कदर छाया रहता है कि वह अपने शुद्ध स्वरूप और स्वतंत्र अस्तित्व को समझ ही नहीं पाती है, जिससे जीव को पदार्थ के सही स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। यही दर्शन मोह मिथ्यात्व है। इसे समझना अत्यंत आवश्यक है।

कुंडलिया छंद

मन के विकार मूल में, मोह चरित्र ज्ञान।।
मिथ्या दर्शन भूल है, मन लालायित मान।।
मन लालायित मान, विषय रस में ये डूबा।
इंद्रिय सुख सच जान, जग का देखे अजूबा।।
भटके 'मधु' फिर जीव, बदल के चोले तन के।
रहे भ्रमित अनजान, बढ़ा दे कषाय मन के।।४०।।

अर्थः- मन इंद्रियों को सुख देने के लिए लगातार विषय और कषायभावों में फंसा रहता है। वह सुख के लालच में ऐसा फंस जाता है कि इसे ही अपना अंतिम लक्ष्य समझने लगता है। फिर जन्म जन्मांतर शरीर बदल-बदल कर संसार में भ्रमण करता रहता है।

व्याख्याः- मोह का दूसरा प्रकार है 'चारित्र मोह'। इसमें मोहवश आत्मा इंद्रियों के वशीभूत होकर विषयों में डूब जाती है। वह अपने मन और इन्द्रियों की लोलुपता में फंस जाती है। मन और इंद्रियाँ कभी भी तृप्त नहीं होती है। इनकी अकुलाहट सदैव बनी रहती है। यही राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण है। इसके कारण मन में दूसरों के प्रति जब कषाय भाव उत्पन्न होते हैं तब मनुष्य काम, क्रोध, मान, माया इत्यादि कषायों में लिप्त होकर व्यवहार करने लगता है। इन भावों से लिप्त आत्मा मोहवश अपने मूल स्वभाव को छोड़कर जगत के मायाजाल मिथ्यात्व से भ्रमित होती रहती है और जगत में कई तरह के शरीर बदल-बदल कर आवागमन करती रहती है। उसे कभी अपने को इस आवागमन से मुक्त करने का ख्याल ही नहीं आता है। वह ममकार में इतनी उलझी रहती है कि चाह कर भी तप और त्याग की राह पर नहीं चल पाती है। अगर वह सम्यक्त्व की राह पर चले तो कषायों को मंद कर सकती है। अपने पर आच्छादित मिथ्यात्व का आवरण हटा सकती है। इस तरह चारित्र मोह का नाश कर मुक्ति मार्ग की ओर अग्रसर हो सकती है।

कुंडलिया छंद

होती आत्मा भानु सम, मोहजाल घनरूप ।
जितना हटता मोह घन, दिखे जगत प्रारूप।।
दिखे जगत प्रारूप, समझ सुख मिथ्या आये।
होती उलझन दूर, आत्म दर्शन हो जाये।।
संयम के 'मधु' साथ, मिले बिरलों को मोती।
निर्जरा तप महान, प्रकट फिर आत्मा होती।।४१।।

अर्थः- मनुष्य की प्रकाश वान आत्मा पर मोह के घने बादल इस कदर छाये हुए हैं कि उसे जगत का मिथ्यात्व समझ नहीं आता है। जब मनुष्य के मन से मोहरूपी बादल छंटेंगे तब वह स्वयं शुद्ध ज्योतिर्मयी आत्मा का दर्शन कर पायेगा। तप और त्याग से ही मोहबंध को कम किया जा सकता है।

व्याख्याः- जैसे घने बादल से सूर्य का तेज प्रकाश छुप जाता है वैसे मोह से आच्छादित आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप नहीं पहचान पाती है। ज्ञान रूपी हवा के झौंकों से यह बादल कभी थोड़े छँटते हैं तब उसे थोड़ा आभास मात्र होता है उस समय व्यक्ति को यह जगत जी का जंजाल लगता है, परंतु कुछ समय बाद फिर उसी में उलझ जाता है। कहते हैं समुद्र में कई गोताखोर मोती ढूढ़ने जाते हैं, परंतु मोती तो कुछ बिरलों को ही मिलता है। इसी तरह तपस्वियों में भी कभी कभी कुछ बिरले होते हैं जो पूर्ण रूप से इन मोह के बादलों को हटा कर उस शुद्ध, प्रकाश पुँज स्वरूप आत्मा में स्थित हो जाते हैं। ऐसी आत्माएँ कर्मों की पूर्ण निर्जरा कर अरिहंत-सिद्ध बनकर मोक्षगामी बन जाती हैं।

◆◆

कुंडलिया छंद

पाता एक अनंत सुख, दूजा तरसा जाय।
ये कर्म अंतराय के, बंधन छूट न पाय ।।
बंधन छूट न पाय, सजा पिछले जन्मों की।
फिर भी समझ न आय, यही गति है कर्मों की।।
सोचें 'मधु' यह आज, कर्म से गहरा नाता।
मूर्छा में इंसान, कभी न समझ वो पाता।।४२।।

अर्थः- प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्मों से बंधा हुआ है। कोई सहजता से जीवन जीते हुए सुख सुविधाएँ भोगता है तो कोई लगातार अवरोध झेलते हुए परेशानी में रहता है। यही कर्मों की गति है जिसके कारण सबका जीवन अपने-अपने कर्मबंधों के अनुसार चलता है। यदि आज भी वह सचेत हो जाये तो अपने कर्म बंध में फेरबदल कर सकता है। यह मूल बात अज्ञान और मिथ्यात्व में पड़े जीव को समझ में नहीं आती है।

व्याख्याः- कर्मों की गति ही ऐसी है कि आम इंसान के समझ में नहीं आती है। वह अज्ञानता और मिथ्यात्व वश मूर्छा में जीवन जीता रहता है। प्रत्येक जीव को अपने-अपने कर्म बंधन के अनुसार अलग-अलग परिस्थितियाँ मिलती है फिर उनके अनुसार उनको वैसे ही सख-दुख भोगने पड़ते हैं। अकसर हम देखते हैं कि एक जीव तो अनंत सुख सुविधाओं के साथ जीवन जीता है तो दूसरा उसके लिए तरसता है। एक जीव थोड़े में संतुष्ट रहता है तो दूसरा सब कुछ पाने पर भी असंतुष्ट रहता है। इन सबको समझने के लिए

हर इंसान को अपने कर्मों की गति को भलीभांति समझना होगा इसके प्रति सजग रहना होगा। अगर हम अपनी सूझबूझ से एक घटनाक्रम में भी थोड़ा फेरबदल कर परिस्थितियाँ ठीक कर सकते हैं तो अपनी समझ और शुभ भावों से पूरा जीवन तो क्या आगे आने वाले जन्मों को भी सुधार सकते हैं। इसके लिए सजग होने की आवश्यकता है। जब व्यक्ति अपने मन के विकारों को कम करके अपने आपको सिर्फ दृष्टा भाव से देखेगा तब उसे यह सभी बातें भलीभांति समझ में आयेगी क्योंकि दीपक स्वयं अपने तल का अंधेरा नहीं देख सकता है। उसे दूर से ही देखा जा सकता है।

◆◆

कुंडलिया छंद

रहता भाव विरोध का, सबसे बड़ा अधर्म।
बढ़ जाते हैं पाप फिर, यही बांधते कर्म।।
यही बांधते कर्म, जन्म जन्मांतर चलते।
पुद्गल बन के बोझ, संग आत्मा के पलते।।
ज्ञात रहे 'मधु' नित्य, मनुज ही सब कुछ सहता।
सबका हो सम्मान, भाव तो मन में रहता ।।४३।।

अर्थः- किसी के कार्य में बाधा डालने के भाव व्यक्ति को अंतराय कर्मबंध में बांधते हैं। इन कर्म पुद्गलों का बोझा आत्मा को ढोना पड़ता है। मनुष्य सकारात्मक भाव रखकर सबका सहयोग करे तो अंतराय कर्मबंध से बच सकता है।

व्याख्याः- किसी कार्य के प्रति अवरोध के भाव नकारात्मक कार्मिक पुद्गल बनकर हमारी शुद्ध आत्मा से जुड़ जाते हैं जो न केवल स्वयं की आत्मा को दूषित करते हैं, बल्कि किसी और के कार्य में भी बाधक बनकर उनको अंतराय देते हैं और हमारे अंतराय कर्मबंधों का कारण बनते हैं, जिसकी वेदना हमको अनंत काल तक भोगनी पड़ती है फिर जीव इस संसार के चक्रव्यूह में फंस जाता है। इसलिए किसी के प्रति विरोध करने की भावना ही सबसे बड़ा अधर्म है। इसी से व्यक्ति के मन में वैर भाव पैदा होता है जो दूसरे के प्रति निरंतर कषाय भाव पैदा करवाता रहता है। यह भाव इस जन्म में तो व्यक्ति को दुख देता ही है अगले जन्म में भी यह अंतराय और वेदना बंध के रूप में जीव के साथ रहते हैं। ऐसे कर्म बंधन अगले किसी भी जन्म में उदय में आते रहते हैं। राग-द्वेष के भाव बनकर संस्कार के रूप में जीव के साथ चलते रहते हैं जो अत्यधिक हानिकारक है। जब हम किसी दूसरे के प्रति दुर्भावना नहीं रखेंगे तब स्वतः सकारात्मक सोच का झरना हमारे मन में बहने लगेगा और अपने कर्मों की भी निर्जरा होती रहेगी।

कुंडलिया छंद

घाती बंधन बंध से, कर्म बंध की पीर।
नाम आयु गोत्र मिले, तभी बनता शरीर।।
तभी बनता शरीर, रहे आसक्त इंद्रियाँ।
लख चौरासी पार, मिले जीव पंचेन्द्रियाँ।।
पढ़लें फिर 'मधु' आज, मनुष्य जन्म की पाती।
कर्म सभी खप जाय, मिटे कर्मों की घाती।।४४।।

अर्थः- मिथ्यात्व इत्यादि चार घाती कर्मों के कारण अपनी जो कर्मों की स्थिति बनी है उसके अनुसार अघाती कर्मो को काटने के लिए आत्मा जीव बनकर जगत में आती है। बड़ी मुश्किल से चौरासी लाख योनियों में भटक कर मनुष्य जन्म मिलता है। जीव को पुण्य से अब यह मनुष्य रूपी पत्र मिला है। इस पत्र के द्वारा अपने कर्मो का हिसाब हाथ लग गया है। इसलिए इस जीवन को व्यर्थ नहीं जाने दें इसी जन्म में अपने पिछले सब कर्मों का क्षय करने की शुरुआत तो कर ही लेनी चाहिए ताकि हम अपनी आत्मा से कर्मबंध हटाते रहें क्रमशः मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ते रहें।

व्याख्याः- घाती कर्मों के उदय होने पर जीव को अघाती कर्मों को काटने के लिये संसार में आना पड़ता है। नाम, आयु, गोत्र और वेदनीय ये अघाती कर्म है। जिसके जैसे पूर्व जन्म के कर्म होते हैं उसी प्रमाण से यह अघाती कर्म भोगने पड़ते हैं। चौरासी लाख योनियों में भटक कर मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। यह जन्म भी अपने शुभ कर्मों के कारण हमें मिला है, जिसमें अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय करके आत्मा शुद्ध रूप में स्थित होने का प्रयत्न कर सकती है, क्योंकि पंचेन्द्रिय जाति के संज्ञी जीव के ही मन होता है और उसमें से भी मनुष्य ही मन से हेयोपादेय की क्षमता रखता है इसलिए उसमें अपना भला बुरा सोचने की शक्ति है। हमें कर्मों की प्रकृति

को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। घाती-अघाती रूप से कर्म की प्रकृति दो प्रकार की होती है।

घाती कर्म:-

आत्मा के गुणों का घात करने वाले कर्म घाती कर्म कहलाते हैं। आत्मा पर बंध के आवरण चढ़ जाते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं

१) ज्ञानावरणीय २) दर्शनावरणीय ३) मोहनीय ४) अन्तराय।

(१) ज्ञानावरणीय:- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान पर अज्ञान का आवरण होता है।

(२)दर्शनावरणीय:- चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल, निद्रा, निद्रा-अनिद्रा, प्रचला, प्रचला-अप्रचला, स्त्यानगृद्धि (नींद में कार्य करना) की स्थिति का होना।

(३) मोहनीय:- १) दर्शन मोह:- सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय के भाव हैं।

२) चारित्र मोह के दो भेद :- अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय के भाव।

१)अकषाय वेदनीय:- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद।

२)कषाय वेदनीय:- ये बंध अपने कषायभावों की तीव्रता मंदता के हिसाब से चार तरह से बंध जाते हैं फिर जीव पाप-पुण्य भोगने के लिए संसार में जन्म मरण का क्रम निभाता रहता है जो इस प्रकार हैं:-

१) अनंतानुबंधी कषाय:- यह कषाय भाव अनंत संसार का कारण बनता है

२) अप्रत्याख्यानावरणीय:- ऐसे जीव जो हिंसा आदि को बुरा जानते हुए भी रोक नहीं पाते हैं। पाप कर्म में तल्लीन रहते हैं। इन कषायों के रहते हुए मनुष्य व्रती श्रावक नहीं बन सकता है। इन कषाय भावों के कारण जीव अनंत काल तक संसार भ्रमण करता रहता है।

३) प्रत्याख्यानावरणीय:- इन जीवों की पाप छोड़ने की प्रवृत्ति बनने लगती

है, परंतु पूर्ण रूप से नहीं छोड़ पाते हैं। इन कषाय के रहते मनुष्य सकल संयम धारण नहीं कर पाता है।

४) संज्वलन:- ऐसे संयमी जीव जो नये पाप-पुण्य में व्यवहार रूप से तो नहीं बंधते है चारित्र धर्म स्वीकार भी कर लेते हैं, परंतु जिनके मन में सहज रूप से अपने स्वभावगत कषाय भाव उत्पन्न होते रहते हैं। संयम के साथ मंद कषाय भावों का होना छठे से दसवें गुण स्थान तक रहता है।

उपरोक्त चार तरह के कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार भावों के हिसाब से १६ तरह के हो जाते हैं।

उपरोक्त भावों की प्रगाढ़ता और अति प्रगाढ़ता की अपेक्षा से बंध को चार तरह से समझा जा सकता है:-

१) बद्ध:- यह साधारण बंध है। जैसै सुइयों का एक जगह एकत्र होना। यह संज्वलन कषाय होते हैं जो बंधन में आते ही तुरंत छूट भी जाते हैं। ये संज्वलन की श्रेणी में आते हैं।

२) स्पृष्ट:- यह बंध ऐसा होता है जैसे बहुत सारी सुइयों का एक साथ बांध कर गठरी बांध देना। ये प्रत्याख्यानावरणीय कषाय होते हैं।

३) बद्ध स्पृष्ट:- यह बंध सुइयों को लोहे के तार से पक्का बांध देने जैसा होता है। ये अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय होते हैं।

४) निधत्त:- सुइयों को अग्नि में तपाकर हथौड़े से पीट कर बांध देने जैसा निधत्त बंध होता है। यह सबसे प्रगाढ़ बंध होता है जो अनंतानुबंधी कषाय होते हैं।

(४) अन्तराय:- दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन कर्मों के करने से जीव अन्तराय कर्मबंध में बंध जाता है, जिससे साता और असाता वेदनीय कर्म भोगते हुए सुख-दुख महसूस करता है।

अघाती कर्म:-

अघाती कर्म आत्मा के गुणों का घात करने की क्षमता नहीं रखते है, परंतु एक निश्चित समयावधि तक पूर्व संचित कर्मों के अनुपात से आत्मा को इनके साथ

बंधकर रहना पड़ता है। यह नियम समस्त जीव जगत के साथ लागू होता है। ये भी चार प्रकार के होते हैं।

(५) आयुः- नरक, मनुष्य, तिर्यंच, देव की आयु अवधि आयु कर्मबंध होते हैं। आयु कर्म बेड़ी के समान होती है जो जीव को संसार में रोके रखती है।अनंतानुबंधी क्रोध और मान अशुभ भावों को रखने से, परिग्रह करने से नरक आयु का योग बनता है। मायाचारी, विश्वासघात व कर्ज नहीं चुकाने से तिर्यञ्च आयु का योग बनता है। स्वभाव से मृदुभाषी होने, उचित पात्रों को दान देने, अल्प परिग्रह रखने से मनुष्य आयु का योग बनता है। संयम पालन करने से कषायों की मंदता रखने से, समता भाव में रह कर दान तप, तीर्थ इत्यादि करने से देव आयु का योग बनता है।

(६) नामः- अच्छे बुरे शरीर की संरचना नाम कर्म के योग से होती है। मन, वचन और काया के द्वारा कुटिल सोच रखने, कथनी और करनी में अंतर रखने, किसी को धोखा देने, चुगलखोरी,चित्त की अस्थिरता इत्यादि कर्म से अशुभ नाम कर्म बंध का योग बनता है, जिससे व्यक्ति के अंगोपांगों में विकृति आती है। इससे विपरीत सरलता,चित्त की स्थिरता, निंदा का त्याग, समता भाव रखने से शुभ नामकर्म का योग बनता है उससे सुंदरता, यश,कीर्ति, वैभव इत्यादि सहज रूप से मिलते हैं।

(७) गोत्रः- गोत्र कर्मबंध दो प्रकार का होता है। उच्च गोत्र, नीच गोत्र। परनिंदा, आत्म प्रशंसा, दूसरों के गुणों को ढकना, अपने गुणों को प्रकट करना, अरिहंत, गुरू आदि उच्च आत्माओं के कथन में विश्वास न रखना नीच गोत्र के योग बनवाते हैं। शुभ भाव रखने से उच्च गोत्र मिलने के कारण बनते हैं।

(८) वेदनीयः- साता वेदनीय और असाता वेदनीय।

◆◆

कुंडलिया छंद

बोते बीज जमीन में, होते सभी समान।
विटप अलग आकार में,अचरज होता जान।।
अचरज होता जान, संभाला एक जैसा।
मिले अलग पहचान, संयोग है ये कैसा।।
जीव रूप 'मधु' बीज, बंध के खाये गोते।
सबकी निज पहचान, कर्म जैसे वो बोते।।४५।।

अर्थः- जिस तरह एक समान बीज बोने पर हर वृक्ष का रूप रंग आकार भिन्न होता है वैसे ही एक जैसे मनुष्यों को भी अपने अपने कर्मों के अनुसार जीवन में अलग अलग परिस्थितियां मिलती है। अलग अलग संयोग उसको अपने कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं।

व्याख्याः- जमीन में जब बीज बोते हैं तो सभी एक समान होते हैं फिर भी हम देखते हैं कि कुछ बहुत बड़े होकर अच्छे फल देते हैं, कुछ थोड़े कम विकसित होते हैं कुछ समय तक ही फल देकर मर जाते हैं और कुछ बीज पौधे का आकार भी नहीं ले पाते हैं। यह कैसा संयोग है इस पर गहराई से विचार करे तो कर्मबंध का सिद्धांत भलीभांति समझ में आ जाता है। हर जीव को पूर्व निर्धारित कर्मों के अनुसार कैसा जीवन मिलेगा यह पहले ही निश्चित हो जाता है, परंतु फिर भी जैसे अच्छे रख रखाव से कई बार मृत प्रायः पौधे भी फल-फूल जाते हैं वैसे ही पूर्व संचित कर्मों के उदय एवं अपनी सूझबूझ से प्रयत्न करने पर नये शुभ कर्मों के योग से जीवन में परिवर्तन लाकर आने वाले समय को सुधारने की पूर्ण संभावनाएं मनुष्य की बनी रहती है। इस पर विचार कर प्रयत्न करना अत्यंत आवश्यक है।

◆◆

कुंडलिया छंद

बंधन बांधे जीव ने, फिर बैठा पछताय।
फल सब करणी का मिले, वेदना अंतराय।।
वेदना अंतराय, काम में बाधा पड़ती ।
देखे दुख घबराय, नींद रातों की उड़ती।।
मिल जाय 'मधु' ज्ञान, करें प्रातः उठ वंदन।
ये आत्मबल अनंत, छुड़ा दे जग के बंधन।।४६।।

अर्थः- हर जीव को अपने-अपने कर्मों का फल मिलता है। दूसरों को दुख देने पर उसके बदले में दुख अवश्य भोगने पड़ते हैं। सुख देने पर स्वतः सुख मिलते हैं। इस तरह सुख-दुख अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्रत्येक जीव को मिलते हैं। सुख में तो व्यक्ति सुख से जीवन व्यतीत कर लेता है, लेकिन जब दुख आते हैं या अपने कार्यो में अवरोध आते हैं तब रातों की नींद उड़ जाती है। अतः अपने कर्म सजग रहते हुए करना चाहिए ताकि बदले में वेदना नहीं झेलनी पड़े।

व्याख्याः- जाने अनजाने में जीव लालच में पड़कर जब दूसरे जीवों को दुख पहुँचाता है तब उसके ये कर्म अनंत गुणा फलदायी होकर उसको असाता वेदनीय कर्म भोगने पर मजबूर करता है। वैसे ही दूसरों को सुख देने पर साता वेदनीय कर्म के कारण जीव सुख भोगता है। इस तरह वेदनीय कर्म दो प्रकार के होते हैं:- (१) साता वेदनीय और (२) असाता वेदनीय। जिस जीव ने अपने कर्मों के जो बंधन बांधे हैं वे स्वयं ही उसे सुख और दुख के रूप में काटने पड़ते हैं। इसके लिए सुख में सुखी और दुख में दुखी होने की बजाय सम भाव में रहना चाहिए ताकि ये भाव आगामी कर्मबंध का कारण नहीं बन पाये।

दुख आने पर भावों में पश्चाताप होना चाहिए न कि मन में दूसरों के प्रति क्लेश रखना चाहिए। सुख आने पर इतना सुख में भी नहीं खो जाना चाहिए कि दूसरों के दुख का भान भी नहीं रहे।

इसके लिए अपने भावों की विशुद्धि का चिंतन करना चाहिए। आत्मा मूलतः स्वच्छ और स्वतंत्र है। इसमें इतना बल है कि वह सभी कर्म बंधनों की निर्जरा कर के स्वयं अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो सकती है। इसके लिए मनुष्य को खुद ही अपना आत्मबल बढ़ा कर प्रयत्न करना चाहिए। सुबह जल्दी ब्रह्म मुहुर्त काल में जो यह प्रयत्न करे तो इसके अवश्य सकारात्मक परिणाम मिलते हैं।

◆◆

कुंडलिया छंद

बंधन जब छूटे नहीं, पुण्य पाप का भार।
चार तरह के बंध ये, सुख दुख का संसार।।
सुख दुख का संसार, कषाय योग बलशाली।
प्रकृति स्थिति अनुभाग, और प्रदेश की थाली।।
ध्यान रहे 'मधु' बात, यही मन करता क्रंदन।
करे इंन्द्रियाँ भोग, कसे आत्मा पर बंधन।।४७।।

अर्थः- इंद्रियाँ निरंतर भोग में लिप्त रहना चाहती है इसलिए मन इंद्रियों को विषय सुख देने के लिए सदैव आकुल-व्याकुल रहता है। जीव अपनी अहंबुद्धि से शरीर को अपना मानकर कषाय, योग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व भावों के वशीभूत होकर कर्म बंधन करता रहता है। प्रत्येक जीव के उपरोक्त कषाय, योग इत्यादि की तीव्रता-मंदता के हिसाब से कर्मबंधनों का प्रमाण और स्थितियाँ अलग अलग मात्रा में बनती है उसके अनुसार ही फिर जीव अपने कर्मबंधन के कारण ही तरह-तरह की गति और मति को प्राप्त करते हुए संसार में अनंतकाल तक जन्म-मरण के गोते लगाता रहता है। इसके फलस्वरूप पुण्य-पाप के उदय होने से विविध प्रकार के सुख-दुख अलग-अलग प्रमाण में भोगता रहता है।

व्याख्याः- अपने पूर्व संचित कर्म-बंध के अनुसार मनुष्य की जीवन भर की गतिविधियाँ कुछ तो पहले से ही निर्धारित होती हैं, परंतु वह चाहे तो ज्ञान पाकर और शुभ कर्मों से निर्जरा कर अपने प्रयत्नों से कुछ

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय इत्यादि घाती कर्म बंधनों की मात्राओं में स्वयं परिवर्तन भी ला सकता है जो केवल इसी मनुष्य जन्म में संभव है। ये पूर्व संचित कर्म चार तरह से बंट जाते हैं-

१) प्रकृति २) प्रदेश ३) स्थिति और ४) अनुभाग।

१) प्रकृतिः - अपनी प्रकृति के अनुसार ज्ञानावरणीय इत्यादि कौन-कौन सा कर्म बंध आत्मप्रदेश पर रहेगा।

२) प्रदेशः - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय इत्यादि ८ प्रदेशों में से कौन-कौन से बंध किन प्रदेशों में कितनी मात्रा में लगेंगे।

३) स्थितिः - कितने तीव्र-मंद भावों के कारण बंधा हुआ कर्म कितने समय तक जीव के साथ रहेगा। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़-कोड़ी सागर, मोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर तथा नाम, कर्म और गौत्र की बीस कोड़ा-कोड़ी सागर है। उसी प्रकार वेदनीय कर्म की बारह मुहुर्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त और शेष कर्मों की अन्तर मुहूर्त की जघन्य स्थिति है।

४) अनुभागः - कर्म बंध की तेज, मंद, अतिमंद गति और शक्ति कैसी होगी यह अनुभाग बंध है। इस बंध की दृष्टि से ८२ पाप प्रकृतियों का तीव्र भाव रस, तीव्र संक्लेश द्वारा बंध और ४२ पुण्य प्रकृतियों का तीव्र भाव रस, तीव्र विशुद्धि रस द्वारा बंध होता है। इस तरह मंद और अतिमंद भावों के अनुसार भी कर्मबंध के भाग-अनुभाग होते हैं।

◆◆

अध्याय - १५

पाप

कुंडलिया छंद

माया गुस्सा तज अहं, मत करना फिर लोभ ।
पालें सत्यादिक नियम, राग द्वेष से क्षोभ ।।
राग-द्वेष से क्षोभ, कपट निंदा से बचना ।
रति अरति पैशून्य, मिथ्यात्व सदैव तजना ।।
कलह करे 'मधु' नाश, रहे प्रतिशोधी काया
पाप अठारह दोष, नहीं छूटे फिर माया ।।४८।

अर्थः- १) क्रोध २) मान ३)माया ४) लोभ ५) हिंसा ६) असत्य ७) चोरी ८) परिग्रह ९) अब्रह्मचर्य १०) राग ११) द्वेष १२) पेशून्य (चुगली) १३) पर परिवाद (परनिंदा) १४) अभ्याख्यान (दोषारोपण) १५) मृषावाद (कपट) १६) कलह १७) रति-अरति (सुख में हर्ष और दुख में क्षोभ करना) और १८) मिथ्यात्व (कुगुरु-कुधर्म में मान्यता)। यह १८ भाव पाप की उत्पत्ति के स्थान है। इन्हें छोड़ें तो मन के कषायभावों पर अंकुश लगाया जा सकता है।

व्याख्याः- उपरोक्त १८ प्रकार के भावों के मन से बंध जाने के कारण 'भाव पाप' होते है। इन भावों के कारण सदा ईर्ष्या, लालच, भय, जुगुप्सा, प्रतिशोध इत्यादि नकारात्मक भाव बढ़ते रहते हैं फिर वे भी जीव के पापबंध के कारण बनते हैं।

पाप को चार भागों में विभाजित किया गया है-

१) भावपाप २) द्रव्य पाप ३) पापानुबंधी पाप और ४) पुण्यानुबंधी पाप।

१) उपरोक्त १८ भावों का जीव मन में चिंतन भी करता है तो 'भावपाप' होता है। भावपापों के परिणाम तीव्र होने पर सत्ता में रहे शुभ कर्म भी पापबंध में बदल जाते हैं।

२) इन भावों के वशीभूत होकर जीव जो कर्मबंध बांधता है वे 'द्रव्य पाप' होते हैं।

३) पूर्वकृत पाप कर्म के उदय से मन के वैर भाव से बंधे भावों के वशीभूत होकर जीव जब पुनः पापकर्म करता है वह 'पापानुबंधी पाप' कहलाते हैं।

४) पूर्व के पुण्य के उदय से सुख भोगते हुए अज्ञानवश नवीन पाप बंधन जो होते रहते हैं वे 'पुण्यानुबंधी पाप' हैं। इसकाल में इस तरह के पाप करने वालों की संख्या अधिक है।

उपरोक्त पापों के द्वारा जीव स्वयं अपराध करने के फलस्वरूप नीच, तिर्यंच और नारकी गति में जन्म लेकर भयंकर दुखों को स्वयं ही भोगता हुआ संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

कुंडलिया छंद

झीना पर्दा बुद्धि पर, अहंकार की धूल।
रंज मन पर चढ़ी यही, बहुत बड़ी है भूल।।
बहुत बड़ी है भूल, नभ में खुद को उड़ाना।
समझें पर को हीन, बड़ा खुद ही बन जाना।।
अपनी ही 'मधु' आन, शान में कैसा जीना।
मैं का झूठा भाव, अक्ल पे पर्दा झीना।।४९।।

अर्थः- मनुष्य की बुद्धि पर जो अहंकार का पर्दा पड़ा है वो उसे महसूस ही नहीं होता है। अपने आपको हमेशा उच्च स्थिति में समझने पर व्यक्ति खुद पर मान करता है और दूसरे को हीन भावना से देखता है फिर अपने इस झूठे अहंकार में खुद ही इतना उलझ जाता है कि यह उसकी आदत ही बन जाती है।

व्याख्याः- जीव को शरीर मन आदि पर्याप्तियों से इतना ममकार भाव रहता है कि वह अपने आप से मोह करने लग जाता है। स्वयं को मोह करते हुए उसके मन पर अहंकार रूपी धूल का झीना पर्दा पड़ जाता है। यह पर्दा इतना महीन होता है कि साधारण मनुष्यों को यह महसूस भी नहीं होता है। संसार में व्यक्ति राग-द्वेष में उलझकर मायावी जाल में फंसता चला जाता है। इस आवरण के कारण आत्मा अपने मूल स्वभाव को पहचान ही नहीं पाती है।

जब मनुष्य मन में विनम्र भाव रखकर विवेक पूर्वक कोई कार्य करने की सोचेगा तभी सही ज्ञान प्राप्त हो सकेगा और इस तरह के पापों से बच सकेगा अपने प्रयासों से स्वयं को ही सुधार करने का प्रयत्न करना पड़ेगा। आज मनुष्य इसीलिए विषय-वासनाओं और मोह के वशीभूत होकर जीवन जी रहा है। मोहवश वह आग्रही बनता जा रहा है। आग्रही व्यक्ति की जिद उसे विनम्रता से कोसों दूर कर देती है।

कुंडलिया छंद

मानव भावों में बंधा, रखना इसका ख्याल।
चिंतन के हर मूल में, करता अहं धमाल।।
करता अहं धमाल, यही विकार बढ़वाता।
द्वेष भाव के साथ, आग मन में लगवाता।
चिंतन की 'मधु' बात, क्रोध बनवा दे दानव।।
घात अहं कर जाय, रहे अनजाना मानव।।५०।।

अर्थः– यह अहंकार का भाव मनुष्य के मन में ऐसे-ऐसे विकार उत्पन्न करवाता है कि मन किसी और को ऊँचा देख ही नहीं सकता और कोई उससे अच्छी स्थिति में हो तो उसे बर्दाश्त नहीं होता है। इस तरह उसका अहं भाव खुद उसमें ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, क्रोध पैदा करवा देता है जो उसको ही नुकसान पहुँचाते हैं।

व्याख्याः– सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के भावों के अनुसार अपने विचार रखता है। अपनी सोच के अनुसार ही कार्य करता है। यह भावों की स्वतंत्रता सबको अच्छी लगती है, लेकिन किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा अपने मन के अनुसार कार्य नहीं होने पर वह विचलित होकर कई बार क्रोध करने लग जाता है। इसी से मन में कालुष्य भाव पैदा होता है। इस पर चिंतन करने की आवश्यकता है। अहंकार (मान) ने मनुष्य के दिमाग पर इस कदर मालिकाना हक जमा रखा है कि वह अपने साथ-साथ दूसरों की मानसिकता पर भी अपना हक जमाने का असफल प्रयास करने लग जाता है। वह मोह वश सब पर अधिकार भाव रखता है। इसी अधिकार भाव में उलझा

हुआ व्यक्ति अपने अंदर छुपे मोह पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता है और उसके मन में सब के प्रति राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। इसके कारण ही क्रोध पनपता है। इसी कारण से व्यक्ति भाव पाप के बंधन में बंधता ही चला जाता है। इसलिए उसका यह भाव उसी के लिये बहुत घातक हो जाता है जिससे वह खुद भी अनभिज्ञ है।

जब मनुष्य अपने विवेक को जगाकर मन से चिंतन करेगा और ममकार भाव को छोड़कर स्व और पर की आत्माओं के भेद को समझेगा उसके पश्चात दोनों के मूल स्वभावों को समझते हुए सबके अलग-अलग भावों को जान सकेगा तभी मनुष्य अपने आप में संतुलन ला सकेगा।

◆◆

कुंडलिया छंद

जितना चाहा कब मिला, बढ़ी चाह हर बार।
विषय आसक्त इंद्रियाँ , मन की पीड़ अपार।।
मन की पीड़ अपार, दुखों में बीते सदियाँ।
व्याकुल अपरंपार, हर्ष की ढूँढ़े नदियाँ।।
भूले मन 'मधु' प्राप्य, विषय में भटके कितना।
रखें सदा संतोष, मनुज को मिलता जितना।।५१।।

अर्थः- लालची मनुष्य का मन कभी तृप्त नहीं होता है उसके मन में और पाने की अकुलाहट बढ़ती ही चली जाती है। वह अपने आपमें स्वयं ही इतना असंतुष्ट रहता है कि दिन रात संतोष के लिए भागता रहता है। वह यही भूल जाता है कि तृप्त होना उसके स्वयं के हाथ में है।

व्याख्याः- व्यक्ति की इच्छाएँ अनंत है वह कितना भी प्राप्त कर ले उसे और ज्यादा पाने की लालसा रहती है, क्योंकि इंद्रियों को हर समय अपने विषयों से तादात्म्य करने की ललक होती है और मन इसके लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। इंद्रियों की स्मरण शक्ति बहुत अल्प समय की होती है। इन्हें यह प्राप्ति का सुख बहुत जल्दी विस्मृत हो जाता है। इसीलिए व्यक्ति का मन कभी तृप्त नहीं होता है, उसके मन में सदैव कुछ न कुछ नया पाने की लालसा बढ़ती जाती है। उसका मन आकुल-व्याकुल ही रहता है। उसकी कुछ न कुछ नया पाने की अकुलाहट कभी भी कम नहीं होती है। दूसरों को स्वयं से ज्यादा सक्षम देखकर व्यक्ति ईर्ष्या और द्वेष भी करने लगता है। इसलिए वह दुखी ज्यादा रहता है। अपनी कमियों को छुपाने के लिए भी परनिंदा, चुगली, कपट, दोषारोपण इत्यादि बुरी प्रवृत्तियों की ओर प्रवृत्त होता चला जाता है। स्वयं ही अपने आप में विचलित रहने लगता है जब मन से मनुष्य स्वयं अतृप्त है तो उसे तृप्ति कैसे मिल पायेगी इसलिए वह सदैव सुख की खोज में भटकता ही रहता है।

कुंडलिया छंद

रहती आतुर इंद्रियाँ , अद्भुत सुख का स्वाद।
विषयों में डूबी रहे, मन से वाद विवाद।।
मन से वाद विवाद, जीव उलझा रह जाये ।
मूल तत्त्व की टोह, नहीं विकल्प मिल पाये।।
आत्मा पर 'मधु' बोझ, सतत कर्मों को सहती।
रखना मन को बांध, चाह तो बढ़ती रहती।।५२।।

अर्थः- विषयों में डूबकर इंद्रियों द्वारा सुख पाने के लिए मन सदैव आतुर रहता है। सुख का स्वाद बहुत ही अद्भुत है। सदैव लालायित इंद्रियों को विषय सुख की प्राप्ति नहीं होने पर मन के कषाय और बढ़ते चले जाते हैं और फिर मन के विकार उसको और पाप बंधन में बांधते रहते हैं।

व्याख्याः- अपनी इंद्रियों के सुख तो क्षणिक होते हैं फिर कब तक अपनी इंद्रियों को विषयों में लिप्त रखेंगे। अपनी इच्छाओं के पीछे भागते रहेंगे। हमें अपने इंद्रियों के छोटे-छोटे सुखों में फंस कर मन सदियों से व्याकुल ही रहा है। मन के चिंतन को अब एक नयी दिशा देने की जरूरत है इसके लिए हमें क्षणिक सुखों को छोड़कर पूर्ण आनंद प्राप्ति की खोज करने के लिए अग्रसर हो जाना चाहिए ।

इंद्रियों के वशीभूत होकर आत्मा निरंतर कर्मों के बोझ तले दबी रहती है। इस बात को भलीभांति समझकर मनु को अपने आत्म सुख को जानने के लिए मूल तत्त्व को समझने की चेष्टा करनी चाहिए यही श्रेयस्कर है। तभी पूर्ण आनंद की प्राप्ति संभव हो सकेगी ।

कुंडलिया छंद

आचार है विचार से, रहे सदा संज्ञान।
भावों की फिर शुद्धता, रहती पुण्य प्रधान।।
रहती पुण्य प्रधान, शांति जो दिल में भर ले।
फिर हो दूर विकार, धैर्य जो धारण कर ले।।
जल जैसे 'मधु' शुद्ध, सदा रखना है विचार।
हो कषाय से दूर, सरल सा रहे आचार।।५३।।

अर्थः- मन के जैसे भाव होते हैं वैसे ही हमारे विचार बनते हैं और जैसे विचार बनते हैं वैसा ही हम व्यवहार करते हैं। इसलिए भावों का संतुलन सीधा हमारे व्यवहार को संतुलित करता है। अच्छा व्यवहार अपने मन को सुकून देता है और सबके साथ सामंजस्य बनाये रखने में हमारी मदद करता है ।

व्याख्याः- हमारे मन के विचार जल के समान शुद्ध, सरल और तरल होने चाहिए, जिससे हम ज्यादा सहज होकर स्थितियों को समझ सकें और दूसरों से भी सरल व्यवहार कर सकें। तभी हम मन के विकार दूर कर सकेंगे। अज्ञानवश हमारे चित्त पर जो यह अहं भाव डेरा डालकर बैठा है वही हमें मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि बुरी प्रवृत्तियों को छोड़ने नहीं देता है। हमें ज्ञान के द्वारा इसको समझने का प्रयत्न करना होगा। जीव जो अपनी प्रशंसा स्वयं करते हैं और दूसरों में गलतियाँ निकालते हैं वे जीव परनिंदा, हास्य, रति, अरति, मिथ्यात्व में लीन रहते हैं। सत्य, अहिंसा आदि सिद्धांतों का पालन नहीं करते हैं। इन सब बुरी आदतों से जो व्यक्ति छूटने का प्रयत्न करेगा तभी पाप करने से बच सकेगा। इसके लिए हर मनुष्य को मन से अनुशासित जीवन जीने की आवश्यकता है।

कुंडलिया छंद

मानव यदि विशेष रहे, या फिर कोई आम।
मोल भाव संसार में, सबका अपना दाम।।
सबका अपना दाम, किसी को कम मत आँकें।
अपना करे सुधार, स्वयं के अंदर झाँकें।।
हट जाये 'मधु' आज, छुपा जो दिल में दानव।
सभी गुणों की खान, मान क्यूँ करता मानव।।५४।।

अर्थः- सभी मनुष्य एक जैसे ही हैं सिर्फ अपने कर्मों की स्थिति के हिसाब से उनको विभिन्न परिस्थितियाँ मिली हुई है। आज जो स्थिति मिली है कल उससे अच्छी या और बुरी भी मिल सकती है फिर अहंकार किस बात का है। उसे अभिमान करने की क्या जरूरत है? बस अपने नकारात्मक भावों को शुद्ध कर अपने कर्मों के प्रति सचेत रहे अपने आप को परिष्कृत करे यही उसके हित में है।

व्याख्याः- मनुष्य जितना दूसरों की बुराइयों को देख दुखी होता है, उतना अगर अपनी गलतियों में सुधार करने की चेष्टा करे तो सुखी रहना सीख जायेगा। जगत की हर वस्तु या व्यक्ति का अपना विशेष गुण धर्म होता है इसलिए किसी को अपने से कम नहीं आँकना चाहिए। खुद को श्रेष्ठ समझकर अहंकार नहीं करना चाहिए। भले ही कोई व्यक्ति या वस्तु आज निरर्थक लगती हो वह कल उपयोगी हो सकती है। कहते हैं कि जरूरत पड़ने पर पाँव की धूल भी काम आती है। दूसरों में दोष देखने की प्रवृत्ति छोड़ते ही उनके गुण सहज रूप से दिखने लगते हैं फिर दूसरों को सम्मान देने का भाव अपने आप जागृत होने लग जाता है। हम सहज रूप से जो जैसा है उसे वैसा स्वीकार कर लेते हैं। हमारे मन में सबके प्रति सद्भावना जागृत होने लगती है और दूसरों के प्रति सद्भावना रखना ही सच्ची प्रभावना है। अपना सुधार करना ही सच्चा धर्म है।

अध्याय - १६

पुण्य

कुंडलिया छंद

मन से विकार छोड़ना, समता बढ़े विशेष।
ऐसे समस्त जीव को, नहीं रहे विद्वेष।।
नहीं रहे विद्वेष, हिय में जागे तरलता।
कोमल बनते भाव, वचन में रहे सरलता ।।
शुद्ध रखें 'मधु' भाव, करें तप अपने तन से।
पापों से बस दूर, पुण्य फलीभूत मन से।।५५।।

अर्थः- जब मनुष्य उपरोक्त १८ तरह के भावों में से कोई भी भाव अपने मन में नहीं लाये तभी उसके मन के विकार छूट पायेंगे। दूसरों के प्रति राग द्वेष भी कम होने लगेंगे। लगातार ऐसा मन बनाते रहने से स्वतः कोमलता स्वभाव में आ जायेगी और वाणी में मधुरता आ जायेगी। जब मन अपने कषाय भावों पर विजय प्राप्त कर लेता है तभी उसका तप करना भी सार्थक हो जाता है क्योंकि शुद्ध मन से की गई निर्जरा का ही अच्छा फल अपने आप मिलता है।

व्याख्याः- जितना हम मन से दूसरे के प्रति राग और द्वेष के भाव हटाते रहेंगे उतना ही हमारा मन निर्विकारी बनता जायेगा। सबके प्रति समता भाव उत्पन्न होने लगेगा। मन में जब समता भाव का प्रादुर्भाव होने लगता है तब हमारे मन के विकार स्वतः कम होने लगते हैं। यहीं से हमारे विचारों में

सकारात्मक बदलाव आना शुरू हो जाता है। फिर हमारी वाणी भी सरल और मधुर होने लगती है। हमारा मन जब सबके प्रति उदार हो जाय तो मन का कालुष्य भाव और कुविचार स्वयं हटने लग जाते हैं। हमारी आत्मा की शुद्धि स्वतः होने लगती है। उसके बाद जब हम कायिक रूप से तप करें तो सही रूप में कर्मबंधों की निर्जरा होने लगती है। मन के कषाय मंद होने लगते हैं। यदि व्यक्ति मन, वचन और काया से उपरोक्त १८ तरह के पापों से बचने का प्रयत्न करे तब पुण्य बंध स्वतः होने लगते हैं जो मनुष्य के सद्गति, उच्च गोत्र, यश, कीर्ति, वैभव इत्यादि सुख के कारण बनते हैं। यही पुण्य मन को निर्विकारी बनाकर अरिहंत बनने तक की यात्रा में सहायक होते हैं, परंतु अगर मनुष्य अपने कर्मों के प्रति सजग नहीं रहा तो फिर पापबंध कर सकता है। इसी अवस्था में पुण्यानुबंधी पापबंध होने की संभावना ज्यादा रहती है। इसलिए अपने कर्मों के प्रति हर पल सजग रहना चाहिए।

◆◆

कुंडलिया छंद

रखना है सद्भावना, सबको देना मान।
हर कोई होता सही, यही सत्य है जान।।
यही सत्य है जान, कह दे कुछ भी जमाना।
सही गलत की सोच, फंस न इसी में जाना।।
चिंतन हो 'मधु' नित्य, स्वयं सुधार हो अपना।
पर प्रपंच से दूर, भाव निज निस्पृह रखना।।५६।।

अर्थः- हर मनुष्य अपने संस्कार और परिस्थितियों के हिसाब से ही व्यवहार करता है जो उसे सदैव सही लगता है। दूसरों के व्यवहार में सही -गलत ढूँढ़ने की बजाय अपने मन, वचन और काया से किये गये हर कार्य को ज्यादा अच्छे भाव के साथ कैसे करें इस बात पर ध्यान देने की ज्यादा जरूरत है। तभी मानसिक हिंसा से बच पायेंगे जो सबसे बड़ा पाप कहलाता है।

व्याख्याः- हर व्यक्ति अपने-अपने पूर्व संचित कर्म एवं स्वभाव से बंधा हुआ है। अपने हिसाब से कर्म करता है और फल भी भोगता है, परंतु ज्यादातर लोग किसी भी घटनाक्रम के घटित होने पर स्वयं को सही और दूसरे को गलत समझने की भूल कर बैठते हैं। दूसरे के प्रति मन में कषाय भाव पाल लेते हैं फिर चाहे अगला इस बात से अनभिज्ञ भी हो खुद ही याद करके दुखी भी होते रहते हैं। इसलिए दूसरों के व्यवहार के प्रति मन में निस्पृह भाव रखते हुए सदैव अपना ही सुधार करना चाहिए। इससे स्वतः अपने मन में दूसरों के प्रति कषाय भाव दूर हो जाते हैं। हम पाप की जगह पुण्य अर्जित कर सकते हैं। इसी सोच के साथ हमारे मन में वैर भाव का प्रादुर्भाव नहीं होता है हम सबका सम्मान करना सीख जाते हैं।

कुंडलिया छंद

सबके भाव रहे अलग, मूलभूत यह मान ।
धर्म एक सबसे बड़ा, सबका हो सम्मान।।
सबका हो सम्मान, मनन करना है दिल से।
बैर भाव से दूर, जनम मानव मुश्किल से।।
चिंतन हो 'मधु' आज, मिला क्या हिंसा करके।
रखें अहिंसा भाव, शांत रहते मन सबके।।५७।।

अर्थः- बड़ी मुश्किल से मिले इस मानव जन्म में जितना चिंतन-मनन करके अपने अंदर सकारात्मक परिवर्तन ले आयें उतना बेहतर हैं। किसी का विरोध करना कभी हितकारी नहीं हो सकता है। अगर व्यक्ति पूरे मनोभावों से सबका सम्मान करे तो मन, वचन और काया से हिंसा हो ही नहीं सकती है। सबके मन शांत रहेंगे।

व्याख्याः- हमें मनुष्य जीवन चौरासी लाख जीव योनियों में भ्रमण करने के बाद बड़ी मुश्किल से प्राप्त हुआ है। सभी मनुष्यों के स्वभाव भिन्न होते हैं। सबके व्यवहार अपनी सोच के अनुसार ही होते हैं। अपने मन में किसी दूसरे के प्रति वैर भाव नहीं रखते हुए उनके भावों को भी समझना जरूरी है। मन में विरोध के भाव रखने से ही मानसिक हिंसा होती है। यही पापबंध का मूल कारण भी होता है जिससे हमें सदैव बचने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारे भाव साताकारी तभी हो सकते हैं जब हम एक दूसरे के विचारों को महत्व देते हुए दूसरों के प्रति विरोध का भाव खत्म कर सकें और सबका मन से सम्मान कर सकें। भगवान महावीर के द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य इत्यादि पाँच सिद्धांतों को सच्चाई से पालन कर सकें। अहिंसा से ही शांति का वातावरण निर्मित होता है।

कुंडलिया छंद

मन में अनुकंपा रहे, दे गृहस्थ जो दान।
पवित्र आत्मा को करे, सद्गति मार्ग प्रदान।।
सद्गति मार्ग प्रदान, योग फिर शुभ मिल पाते।
जो करते हैं पुण्य, धर्म के पथ दिख जाते।।
सोचे 'मधु' ये पाथ, जगा दे रुचि जन जन में।
भाव हटते अशुद्ध, मिले जो ठाने मन में ।।५८।।

अर्थ:- पुण्यवान मनुष्य सबके प्रति समता और करुणा का भाव रखते हुए पुण्योपार्जन में लग जाते हैं। अध्यात्म मार्ग पर चलते हुए अपनी आत्मशुद्धि की ओर बढ़ जाते हैं। उनकी आत्मा इतनी शुद्ध हो जाती है कि जो वे मन में विचार करे वह कार्य सफलता पूर्वक पूर्ण हो जाता है।

व्याख्या:- जब उपरोक्त १८ प्रकार के पापों का त्याग करके पुण्यवान जीवों के मन में सबके प्रति सहजता आ जाती है। तो वे प्राणी सबके प्रति दया और करुणा का भाव रखने लगते हैं। ऐसे मनुष्यों के मन में परोपकार के भाव जाग जाते हैं। तब वे पवित्र जीव शांत होकर दया, दान, परोपकार और धर्म-ध्यान में लीन रहते हैं। अपने पुण्यों से उनके उच्च गति-गोत्र के संयोग पैदा होते हैं। वे जीव शुभ संयोग से पुण्योपार्जन करते हुए अपनी आत्मा को ऐसी स्थिति में ले आते हैं जहाँ उन्हें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने लग जाती है, परंतु इस समय अगर उन जीवों में अहंकार भाव जागृत नहीं हो उस सुख से ऊपर उठकर आत्मरमण में लीन होने का मार्ग पकड़ ले तब अपनी आत्मा की शुद्धि करते हुए मोक्ष मार्ग की राह पर जा सकते हैं। फिर ऐसे निश्चयी मना जीव श्रुतज्ञान पाकर सीधे तीर्थंकर बनने की ऊर्जा अपनेआप में उत्पन्न कर सकते हैं। वे स्वयं ही सम्यक्चारित्र का मार्ग अपना सकते हैं। जो चाहें वो प्राप्त कर सकते हैं।

कुंडलिया छंद

शुभता जो मन में रहे, जीवन सुधरे आज।
हमको पड़ते भोगना, पुण्य बंध के काज।।
पुण्यबंध के काज, पुनः कर्मों को ढ़ोते।
आत्मा पर फिर बोझ, रहे संसारी गोते।।
भावों को 'मधु' छोड़, रहे न कभी अशुद्धता।
निर्विकारी प्रभाव, मोक्ष पाती है शुभता।।५९।।

अर्थः- शुद्ध भावों से जो कर्म किये जाते हैं उनसे पुण्य बंध होता है उससे व्यक्ति को जीवन में सुख और सुविधाएं मिलती है। सुख भोगने के लिए वह फिर जन्म लेता है। संसार में सुखपूर्वक जीते हुए भी किसी न किसी को अनजाने में दुख देने में आ जाता है फिर पुनः पापबंध होता है इस तरह पाप-पुण्य के खेल में जीव संसार में भ्रमण करता रहता है। कुछ बिरले इस खेल को निरर्थक समझकर उससे भी उच्च स्थिति में आत्मा को पहुंचाना चाहते हैं वे हर तरह के बंधन से छुटकारा पाना चाहते हैं। यही शुभ भाव मनुष्य को मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर करते हैं।

व्याख्याः- जो कर्म भावों से बंधे रहते है वे राग-द्वेष इत्यादि कषायों से ओतप्रोत होते हैं ऐसे कर्मों का बंध लगता है। बुरे भाव से किये गये कर्म पाप बंध का कारण बनते हैं और अच्छे भावों से किये गये कर्म पुण्यबंध के कारण होते हैं। जीव के बुरे कर्मों का उदय आता है तब उसे विपरीत परिस्थितियाँ मिलती है और जीवन में दुख उठाना पड़ता है। शारिरिक-मानसिक पीड़ा भोगना पड़ता है।

जीव के जब अच्छे कर्मों का उदय आता है तब उसके पुण्यबंध को भोगने के लिए सुख सुविधाओं की प्राप्ति होती है। आमतौर पर ऐसे जीव उन सुख-सुविधाओं में इतना खो जाते हैं कि पुनः पुण्यानुबंधी पाप के चक्कर में फंस जाते हैं जो पुनः उन्हें सांसारिक आवागमन में फंसा देते हैं। सभी सांसारिक जीव पुण्य को अच्छा मानते हैं, परंतु जैन शास्त्रों के अनुसार यह अच्छे कर्मों का बंध पुण्य भी हमारे मोक्ष मार्ग में बाधक है, क्योंकि पुण्यबंध को भोगने के लिए भी आत्मा को संसार में आवागमन करना पड़ता है। हँसते-हँसते मनुष्य पुनः कब प्रमादवश कर्म बंधन के चक्कर में उलझ जाता है। कब मनुष्य अनजाने में किसी के दुख का कारण बन जाता है उसे पता ही नहीं चलता है। यही पुण्यानुबंधी पाप आत्मा को पुनः आगे जाकर नीच गति और गोत्र प्रदान करते हैं इसलिए पुण्यवान आत्मज्ञानी व्यक्ति इस समय अपने कर्मों के प्रति सजग हो जाते हैं ऐसे मनुष्य इस बंध से भी छुटकारा पाना चाहते हैं। वे जानते हैं कि आत्मा इस संसार में निरंतर आवागमन की प्रक्रिया से तभी मुक्त हो सकती है जब अच्छे-बुरे सभी कर्मबंधों से वह मुक्त हो जाये इसलिए ऐसे ज्ञानी निर्विकारी भाव रखते हुए शुभ भावों में स्थित रहते हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार भावों की शुद्धि से पुण्यबंध होते हैं। अशुभ भावों को छोड़कर शुभ भावों की ओर अग्रसर होना अत्यंत आवश्यक है। शुभ भावों से जो पुण्यबंध होते हैं वे घाती कर्मों का नाश करते हैं। घाती कर्मों के नाश होने से गोत्र, आयु, नाम इत्यादि अघाती कर्मों को भोगते हुए अरिहंत बनने की संभावना बनती है। अरिहंत बनते ही समस्त पुण्यबंध स्वतः क्षय हो जाते हैं। भावों को शुभता की ओर ले जाते हुए पुण्यबंध होते रहते हैं, परंतु यहाँ सतर्कता निश्चित रूप से अनिवार्य है। अशुभ भाव पुनः पापबंध की तरफ ढकेल सकते हैं।

◆◆